वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक ज्योति

स्वामी विवेकानन्द का
१५०वाँ जन्मवर्ष

वर्ष ५१ अंक ९
सितम्बर २०१३

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २०१३

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक ९

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

नये प्रकाशन संग्रहणीय प्रकाशन

स्वामी विवेकानन्द

गीत सुमनांजलि (सी.डी.)

(स्वामी विवेकानन्द की संगीतमय जीवनगाथा)

(स्वामीजी के जीवन की घटनाओं का वर्णन तथा उसके भावों के अनुरूप गीतों की प्रस्तुति)

कथा एवं संयोजक – स्वामी विपाप्मानन्द,
गीत – स्वामी विदेहात्मानन्द,
संगीत – श्याम ओझा,
गायक – अनिरुद्ध देशपाण्डे,
सारंग जोशी,
निरंजन बोबड़े आदि
मूल्य – रु. २५/– (डाक व्यय अलग)

* * *

विवेकानन्द – मनीषियों की दृष्टि में

(स्वामीजी के जीवन, सन्देश तथा प्रासंगिकता के विषय में ५४ मनीषियों के विचारों का संकलन तथा अनुवाद)

पृष्ठ संख्या – ६+९२
मूल्य – रु. ३०/– (डाक-व्यय अलग से)

नये प्रकाशन संग्रहणीय ग्रन्थ

महाभारत मुक्ता

स्वामी सत्यरूपानन्द

(महाभारत की २२ कथाओं का पुनर्कथन)

पृष्ठ संख्या – ६+११६
मूल्य – रु. १०/– (डाक-व्यय अलग से)

* * *

सुखी और सफल जीवन

स्वामी सत्यरूपानन्द

(सार्थक जीवन के सूत्र)

पृष्ठ संख्या – १०+१२१
मूल्य – रु. १०/– (डाक-व्यय अलग से)

* * *

अपनी प्रति के लिये लिखें –

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली
नागपुर ४४० ०१२ (महाराष्ट्र)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ५१ सितम्बर २०१३ अंक ९

पुरखों की थाती

चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात्
भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति ।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढा-
स्तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयं ।।३०५।।

– मद्यपान से मन में भ्रान्ति उत्पन्न होती है। चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न होने से व्यक्ति पापकर्मों में लिप्त होता है। पाप करने से मूढ़ व्यक्ति की दुर्गति होती रहती है। अतएव सुरा को कदापि नहीं पीना चाहिये, कदापि नहीं पीना चाहिये।

च्युता दन्ताः सिता केशाः दृष्टिरोध पदे पदे ।
क्षीणं जीर्णमिमं देहं, तृष्णा नूनं न मुञ्चति ।।३०६।।

– मेरे दाँत गिर चुके हैं, केश पक चुके हैं, पग-पग पर देखने में असुविधा होती है, यह सारा शरीर ही जीर्ण-शीर्ण हो गया है, तो भी तृष्णा मुझे नहीं छोड़ती।

छायामन्यस्य कुर्वन्ति स्वयं तिष्ठन्ति चातपे ।
फलान्यपि परार्थाय वृक्षाः सत्पुरुषा इव ।।३०७।।

– महापुरुषों के समान ही वृक्ष भी स्वयं धूप में खड़े रहकर अन्य लोगों को छाया प्रदान करते हैं और उनमें पैदा होनेवाले फल भी दूसरे के कल्याणार्थ ही होते हैं।

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तः सन्तः सन्तप्यते न ते विपदा ।।३०८

– टूटा हुआ वृक्ष पुनः बढ़ता है, क्षीण हुआ चन्द्रमा पुनः वर्धित होता है – ऐसा विचार करते रहनेवाले व्यक्ति को विपत्ति कभी निराश नहीं कर सकती।

जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः ।।३०९

– पानी में तेल, दुष्ट को गोपनीय जानकारी, सत्पात्र को दान और ज्ञानी को शास्त्रज्ञान – यदि थोड़ी भी दे दी जाय, तो ये अपनी आन्तरिक शक्ति से स्वयं ही फैलती जाती हैं।

जल-बिन्दु-निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ।। ३१०

– जैसे बूँद बूँद जल गिरते रहने से घड़ा क्रमशः भर जाता है, वैसे ही सभी विद्याएँ, धर्म एवं धन भी धीरे-धीरे ही बढ़ते हैं।

जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि ।
सेतुः प्रतिष्ठितो येन तेन सर्वं वशीकृतम् ।। ३११

– जो मनुष्य जलाशय खुदवाते हैं, वृक्ष लगवाते हैं, विश्राम-गृह और मार्ग में सेतु बनवाते हैं, वे सभी लोगों को अपने वश में कर लेते हैं।

जलान्तश्चन्द्र-चपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ।।३१२

– देहधारी प्राणी का जीवन, जल में हिलते हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के जैसे चंचल है – इस प्रकार जीवन को क्षणभंगुर जानकर सर्वदा कल्याण-कारी कार्यों में लगे रहना चाहिए।

जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम् ।
संसारम् इममुत्पन्नम् असारं त्यजतः सुखम् ।। ३१३

– जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और नाना प्रकार की वेदनाओं से भरे हुए इस असार संसार को त्यागने में ही आनन्द है।

जये च लभते लक्ष्मीं मृते चापि सुराङ्गनाम् ।
क्षणविध्वंसिनः काया का चिन्ता मरणे रणे ।। ३१४

– युद्ध करते हुए इस क्षणभंगुर शरीर के समाप्त हो जाने की क्यों चिन्ता की जाय, क्योंकि युद्ध में जीत जाने पर धन-वैभव प्राप्त होता है और मर जाने पर स्वर्ग की अप्सराएँ।

❖ (क्रमशः) ❖

चार कुण्डलियाँ

– १ –

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय,
बिन पानी-साबुन दिये, निरमल करे सुभाय ।*
निरमल करे सुभाय, चला वाणी का निर्झर,
साधक होता शुद्ध, कर्मक्षय करता सत्वर ।
कह 'विदेह' वह पाप सभी का अपने सिर ले,
ले जाता प्रभु ओर, राखिये निन्दक नियरे ।।

– २ –

आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास,
इसी तरह से हो गया, अपना सत्यानाश ।।
अपना सत्यानाश, इष्ट से चित न लगाया,
खाया, पीया और किया, जो जी में आया ।।
कह 'विदेह' चिड़िया चुगती खेती जीवन को,
जो कुछ बचा उसी में कर लो, हरि भजन को ।।

– ३ –

सरस्वती का रूप है, वाणी सुधा समान,
वाणी के उपयोग से, हो माँ का सम्मान ।।
हो माँ का सम्मान, मौन अति उचित न भैया,
ज्यादा चुप रहने से, पार न लगती नैया ।।
कह 'विदेह' वह व्यक्ति घोर है मिथ्याचारी,
बाहर चुप, भीतर विषयों की चिन्ता सारी ।।

– ४ –

सदा-सर्वदा जगत् में चुप रह सकता कौन,
अति सर्वत्र निषिद्ध है, अति का भला न मौन ।।
अति का भला न मौन, संयमित बातें कीजै,
सच्चर्चा में सद्‌विचार दीजै औ लीजै ।।
कर 'विदेह' उपयोग, मधुर वाणी जनहित में,
अमर हो गये बुद्ध-विवेकानन्द जगत् में ।।

* कबीरदास का एक दोहा

मैं भारत वापस लौटा

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

कलकत्ता, १ मई १८९७ : आजकल मन में यही हो रहा है कि यह करूँ, वह करूँ, उनके सन्देश को संसार में फैला दूँ, आदि। फिर यह भी शंका होती है कि इससे भारत में कहीं एक नया सम्प्रदाय न खड़ा हो जाय। इसीलिए बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है। कभी ऐसा भी विचार हो आता है कि यदि कोई सम्प्रदाय बन भी जाता है, तो बन जाने दो। फिर सोचता हूँ – नहीं, उन्होंने तो किसी के भाव को कभी ठेस नहीं पहुँचायी। समदर्शन ही उनका भाव था। ऐसा विचार कर अपनी इच्छा को समय-समय पर दबाकर चलता हूँ।...

लगता है कि हम अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहे हैं। पर मैंने यह भी देखा है कि आपत्ति-विपत्ति में, अभाव-निर्धनता में वे ही प्रकट होकर हमें ठीक मार्ग पर चलाते हैं। परन्तु प्रभु की शक्ति पूरी तरह नहीं समझ सका।[१९]

कलकत्ता, मई १८९७ : मनुष्य के प्राण जब भक्ति से परिपूर्ण हो जाते हैं, तो उसके हृदय तथा स्नायु इतने कोमल हो जाते हैं कि वे फूल की चोट तक नहीं सह सकते। ... श्रीरामकृष्ण के बारे में थोड़ा-सा सोचते या बोलते ही मैं भाव-विभोर हुए बिना नहीं रह पाता। इसीलिये मैं सर्वदा भक्ति के उच्छ्वास को संयमित रखने का प्रयास करता रहता हूँ। मैं स्वयं को ज्ञान की जंजीर से बाँधे रखना चाहता हूँ, क्योंकि मातृभूमि के प्रति मेरा कर्तव्य अभी पूरा नहीं हुआ है। इसीलिए जब भी देखता हूँ कि भक्ति का उद्दाम प्रवाह मुझे बहा ले जाना चाहता है, तो उसके सिर पर ज्ञान के कठोर अंकुश से आघात करता हूँ। ओह ! अभी भी मेरा बहुत-सा कार्य बाकी पड़ा है ! मैं श्रीरामकृष्ण का दासानुदास हूँ; वे मेरे कन्धों पर जो कार्य सौंप गए हैं, उसके पूरा होने तक मेरे लिए विश्राम नहीं है। अहा, मेरे ऊपर उनका कितना प्रेम है ![२०]

आलमबाजार मठ, कलकत्ता, ५ मई, १८९७ : मैं अपने बिगड़े हुए स्वास्थ्य को सुधारने एक मास के लिए दार्जिलिंग गया था। मैं पहले से बहुत अच्छा हूँ। दार्जिलिंग में मेरा रोग पूर्ण रूप से दूर हो गया। पूर्णतया स्वस्थ होने के लिए कल मैं अल्मोड़ा जा रहा हूँ। ...

यद्यपि सम्पूर्ण राष्ट्र ने एक साथ उठकर मेरा सम्मान किया और उत्साह से लोग बिलकुल पागल से हो गये, तथापि यहाँ सब चीजें बहुत आशाजनक नहीं प्रतीत होतीं।... कलकत्ते के पास जमीन की कीमत काफी बढ़ गयी है। अभी तीनों राजधानियों में तीन केन्द्र स्थापित करने का विचार है। ये मानो मेरे प्रचारकों को तैयार करने की पाठशालाएँ होंगी, जहाँ से मैं भारत पर आक्रमण करना चाहूँगा।

... मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिसे हम आधुनिक हिन्दू धर्म कहते हैं, उसमें कुछ दोष हैं और यह अवनत बौद्धमत का ही एक रूप है। हिन्दुओं को स्पष्ट रूप से यह बात समझ लेने दो, फिर उन्हें उसे त्यागने में कोई आपत्ति न होगी। वह बौद्धमत का प्राचीन रूप – जिसका बुद्धदेव ने उपदेश दिया था – वह और उनका व्यक्तित्व मेरे लिए परम पूजनीय हैं। और आप अच्छी तरह जानते हैं कि हम हिन्दू लोग उन्हें अवतार मानकर उनकी पूजा करते हैं। लंका का बौद्ध धर्म भी किसी काम का नहीं है। लंका की यात्रा से मेरी भ्रान्त धारणा दूर हो गयी।... वह असली बौद्धमत जिसका मैंने कभी विचार किया था, अभी तक बहुत कल्याण करने में समर्थ होता। परन्तु मैंने अब वह विचार छोड़ दिया और मैं स्पष्ट रूप से उस कारण को देख रहा हूँ, जिसके लिये बौद्ध धर्म भारत से निकाला गया। ...

मैं अमेरिका में एक मनुष्य था और यहाँ दूसरा हूँ। यहाँ पूरा राष्ट्र मुझे अपना नेता मानता है, और वहाँ मैं एक ऐसा प्रचारक था, जिसकी निन्दा की जाती थी। यहाँ राजा मेरी गाड़ी खींचते हैं, वहाँ मैं किसी शिष्ट होटल में प्रवेश नहीं कर सकता था। इसलिए मेरे यहाँ के शब्द मेरे देशवासियों और मेरे राष्ट्र के कल्याणार्थ होने चाहिए, भले ही वे कुछ लोगों को कितने ही अप्रिय क्यों न लगें ! स्वीकृति, प्रेम और सहिष्णुता – सच्ची और निष्कपट बातों के लिए होनी चाहिये, छल-कपट और मिथ्याचार के लिए नहीं। ...

भारतवर्ष पहले ही श्रीरामकृष्ण देव का हो चुका है और परिष्कृत हिन्दू धर्म के लिए मैंने यहाँ अपने कार्य को थोड़ा संगठित कर लिया है।[२१]

आलमबाजार मठ, कलकत्ता, ५ मई १८९७ : नि:सन्देह मन को पूर्ण निराशा में डुबो देनेवाले ऐसे अनेक क्षण जीवन में आते हैं, खास कर किसी विशेष उद्देश्य को सफल बनाने के लिए जीवन भर प्रयास करने के बाद जब सफलता का क्षीण प्रकाश दृष्टिगोचर होने लगता है, ठीक तभी यदि कोई प्रचण्ड सर्वनाशकारी आघात उपस्थित हो, तो मन में एकदम निराशा छा जाती है। दैहिक अस्वस्थता की ओर मैं विशेष ध्यान नहीं देता; मुझे खेद तो इस बात का है कि अपनी योजनाओं को कार्य में परिणत करने का मुझे जरा भी अवसर प्राप्त नहीं हुआ। और तुम भलीभाँति जानती हो कि इसका मूल कारण धन का अभाव है।

हिन्दू लोग जुलूस निकाल रहे हैं तथा और भी न जाने क्या-क्या कर रहे हैं; पर वे धन नहीं दे सकते। जहाँ तक आर्थिक सहायता का प्रश्न है, वह तो मुझे दुनिया में केवल इंग्लैंड की कुमारी मूलर तथा श्री सेवियर से ही मिली है। वहाँ रहते समय मुझे लगा था कि एक हजार पौण्ड प्राप्त होने पर ही कम-से-कम कलकत्ते में प्रधान केन्द्र स्थापित किया जा सकेगा; किन्तु यह अनुमान दस-बारह वर्ष पहले के कलकत्ते -विषयक मेरी धारणा के आधार पर किया गया था। परन्तु इस दौरान कीमतें तीन-चार गुना बढ़ चुकी हैं।

जैसे भी हो, कार्य शुरू हो चुका है। छह-सात शिलिंग किराये पर एक टूटा-फूटा पुराना मकान लिया गया है और उसमें करीब २४ युवक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। स्वास्थ्य-सुधार के लिए मुझे एक माह तक दार्जिलिंग रहना पड़ा था। तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि मैं पहले की अपेक्षा काफी स्वस्थ हूँ। क्या तुम विश्वास कर सकोगी कि बिना किसी प्रकार की औषधि सेवन किये, केवल इच्छाशक्ति के प्रयोग द्वारा ही मेरे स्वास्थ्य में सुधार हुआ है? कल फिर एक ठण्डे स्थान की ओर रवाना हो रहा हूँ, क्योंकि इस समय यहाँ बड़ी गर्मी है। ... मैंने सुना है कि लन्दन का कार्य ठीक नहीं चल रहा है। खासकर इसी कारण से इस समय मैं लन्दन जाना नहीं चाहता हूँ; हालाँकि 'ज्युबिली' उत्सव के उपलक्ष्य में लन्दन जानेवाले हमारे कुछ राजाओं ने मुझे अपना साथी बनाने का प्रयत्न किया था; वहाँ जाने पर वेदान्त की ओर लोगों की रुचि बढ़ाने के लिए मुझे फिर काफी परिश्रम करना पड़ता और मेरे स्वास्थ्य के लिए वह विशेष हानिकर होता।

अस्तु, निकट भविष्य में महीने भर के लिए मैं जा रहा हूँ। यदि केवल यहाँ के कार्यों की नींव डाली जा सकती, तो अत्यन्त आनन्दपूर्वक तथा स्वतन्त्रता के साथ मुझे भ्रमण करने का अवसर मिलता। ...

मुझे श्री तथा श्रीमती हैमण्ड के दो अत्यन्त सुन्दर तथा स्नेहपूर्ण पत्र प्राप्त हुए हैं और इसके अलावा श्री हैमण्ड ने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के लिए एक सुन्दर कविता भी भेजी है – यद्यपि मैं कतई उसके योग्य नहीं हूँ।[२२]

अल्मोड़ा, २० मई, १८९७ : रुपये-पैसे का भी अभी कोई ठिकाना नहीं है, ... तथापि वह आयेगा जरूर। धन होने पर मकान, जमीन तथा फण्ड आदि की ठीक-ठीक व्यवस्था हो जायेगी, पर जब तक वह नहीं मिलता, तब तक कोई विश्वास नहीं है और मैं भी अभी दो-तीन माह तक गरम स्थान में लौटना नहीं चाहता हूँ। इसके बाद मैं एक दौरा करके अवश्य ही कुछ धन-संग्रह करूँगा। ...

अल्मोड़ा में अत्यधिक गर्मी होने की वजह से वहाँ से २० मील दूरी पर मैं एक सुन्दर बगीचे में रह रहा हूँ; यह जगह अपेक्षाकृत ठण्डा है, तो भी गर्म है। यहाँ भी गर्मी कलकत्ते से कोई कम नहीं प्रतीत होती।...

मुझे अब बुखार नहीं आता! और भी ठण्डे स्थान में जाने की चेष्टा कर रहा हूँ। गर्मी तथा पथश्रम से 'लीवर' की क्रिया में गड़बड़ी होने लगती है। यहाँ पर इतनी सूखी हवा चलती है कि दिन-रात नाक में जलन हो रही है और जीभ भी लकड़ी जैसी सूखी बनी रहती है।[२३]

अल्मोड़ा, २९ मई १८९७ : मैंने सुबह-शाम घोड़े पर सवार होकर पर्याप्त व्यायाम शुरू कर दिया है और इस के फलस्वरूप मुझे वास्तविक लाभ भी प्रतीत होने लगा है। ... मुझे सचमुच यह बोध हो रहा है कि देह का होना आनन्द -दायी है। शरीर की प्रत्येक क्रिया में मुझे शक्ति का परिचय मिलता है और अंग के हर संचालन से मुझे सुखानुभव होता है।... डॉक्टर, आजकल जब मैं बर्फ से ढके हुए गिरि-शिखरों के समक्ष बैठकर उपनिषद् से **न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य हि योगाग्निमयं शरीरम्** (जो योगाग्निमय देह को प्राप्त कर चुका है, उसके लिए जरा-मृत्यु कुछ भी नहीं है) की आवृत्ति करता हूँ, तब यदि एक बार तुम मुझे देखते![२४]

अल्मोड़ा, २ जून १८९७ : मेरा स्वास्थ्य बहुत ज्यादा खराब रहा है; अब थोड़ा सुधर रहा है – आशा है, शीघ्र चंगा हो जाऊँगा। लन्दन के कार्य का क्या हाल है? मुझे आशंका है कि वह चौपट हो रहा है। ...

यहाँ मैं एक सुन्दर बाग में रहता हूँ, जो अल्मोड़े के एक व्यापारी का है। बाग मीलों तक पहाड़ों और वनों को स्पर्श करता है। परसों रात यहाँ एक चीता आ धमका और बाग में रखी भेड़ों-बकरियों के झुण्ड से एक बकरा उठा ले गया। नौकरों का शोरगुल और रखवाले तिब्बती कुत्तों का भूँकना बड़ा ही भयावह था। जब से मैं यहाँ ठहरा हूँ, तब से ये कुत्ते रात भर कुछ दूरी पर जंजीरों से बाँधकर रखे जाते हैं, ताकि

उनके भूँकने की तेज आवाज से मेरी नींद में बाधा न पड़े। इससे चीते का दाँव बैठ गया और उसे बढ़िया भोजन मिल गया – शायद हफ्तों बाद। इससे उसका खूब भला हो ! ...

इस समय जब मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ, तो मेरे सम्मुख विराट् बर्फीली चोटियों की लम्बी कतारें खड़ी दिखायी पड़ रही हैं, जो अपराह्न की धूप को परावर्तित कर रही हैं। यहाँ से नाक की सीध में वे करीब बीस मील दूर हैं और चक्करदार पहाड़ी मार्गों से जाने पर वे चालीस मील दूर पड़ेंगी। ...

सोना, खाना और कसरत करना; कसरत करना, खाना और सोना – आगामी कुछ महीनों तक मैं यही करने जा रहा हूँ। गुडविन मेरे साथ है। तुमको उसे भारतीय पोशाक में देखना चाहिए। मैं बहुत जल्दी उनका सिर मुड़वाकर उसे पूरा संन्यासी बनाने जा रहा हूँ।[२५]

अल्मोड़ा, २० जून १८९७ : बहुत दिनों से मुझे (लन्दन के) कार्य का कोई विवरण नहीं मिला है। ... भारत में मुझे लेकर चाहे जितना भी उत्साह क्यों न दिखाया जाय, यहाँ से किसी प्रकार की सहायता मिलने की आशा नहीं है; क्योंकि भारत के लोग अत्यन्त गरीब हैं।

तो भी जैसे मैं प्रशिक्षित हुआ था, ठीक वैसे ही वृक्षतल का आश्रय लेकर और किसी प्रकार के अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करके कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है। कार्य-प्रणाली में भी थोड़ा बदल आ गया है। मैंने अपने कुछ बालकों को अकाल-ग्रस्त स्थानों में कार्य करने भेजा है। इसका चमत्कार जैसा फल हुआ है। मैं देख रहा हूँ, और चिरकाल से मेरी यही धारणा थी कि हृदय – केवल हृदय के द्वारा ही जगत् का मर्मस्थल स्पर्श किया जा सकता है। ...

कुछ युवकों को इस समय शिक्षा दी जा रही है; किन्तु कार्य चालू करने के लिए जो जीर्ण आश्रय हमें प्राप्त हुआ था, वह पिछले भूकम्प में एकदम नष्ट हो चुका है, गनीमत यही है कि वह किराये का था। खैर, चिन्ता की कोई बात नहीं; कठिनाइयों और निराश्रयता के बीच भी कार्य को चालू रखना है।... अब तक मुण्डित मस्तक, फटे वस्त्र और अनिश्चित आहार मात्र ही हमारा सहारा रहे हैं। किन्तु इस परिस्थिति में बदलाव आवश्यक है और निःसन्देह इसमें परिवर्तन भी अवश्य होगा; क्योंकि हम लोगों ने पूरे हृदय के साथ इस कार्य में आत्मनियोग किया है।...

यह सच है कि इस देश के लोगों के लिए त्याग करने योग्य कोई वस्तु नहीं-सी है; तो भी त्याग हमारे खून में विद्यमान है। जिन लड़कों को शिक्षा दी जा रही है, उनमें से एक किसी जिले का एग्जीक्यूटिव इंजीनियर था। भारत में वह पद बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। परन्तु वह तृण के समान उस पद को त्याग चुका है ![२६]

अल्मोड़ा, २० जून १८९७ : मैं अब पूर्ण स्वस्थ हूँ। शरीर में ताकत भी खूब है; प्यास नहीं है।... लीवर की क्रिया भी ठीक है। लगता है कि शशी बाबू की दवा का मुझ पर कुछ खास असर नहीं हुआ, अतः वह दवा बन्द है। खूब आम खा रहा हूँ। घोड़े की सवारी का अभ्यास भी विशेष रूप से जारी है – लगातार बीस-तीस मील तक की घुड़सवारी के बाद भी किसी तरह का दर्द या थकान का अनुभव नहीं होता। पेट बढ़ने की आशंका से दूध लेना पूर्णतः बन्द है।

कल अल्मोड़ा आ पहुँचा हूँ। पुनः बगीचे में लौटने का विचार नहीं है। अब से मैं मिस मूलर के मेहमान के रूप में अंग्रेजी पद्धति से दिन में तीन बार भोजन करनेवाला हूँ।[२७]

अल्मोड़ा, ४ जुलाई १८९७ : यद्यपि मैं अभी तक हिमालय में हूँ और कम-से-कम एक माह और यहीं रहूँगा, तथापि यहाँ आने से पूर्व ही मैंने कलकत्ते में कार्य शुरू करा दिया है और हर हफ्ते मुझे कार्य का विवरण मिल रहा है।

इस समय मैं दुर्भिक्ष के कार्य में व्यस्त हूँ और कुछ युवकों को भविष्य के कार्य के लिए प्रस्तुत करने के सिवाय शिक्षाकार्य में अधिक ऊर्जा नहीं दे सका हूँ। अन्न एकत्र करने में ही मेरी सारी शक्ति एवं पूँजी समाप्त होती जा रही है। और यद्यपि अब तक मुझे अत्यन्त सामान्य रूप से ही कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ है, तो भी आशातीत फल दिखायी दे रहा है। बुद्धदेव के बाद अब पुनः यह देखने को मिल रहा है कि ब्राह्मण-सन्तानें हैजाग्रस्त अन्त्यजों की शय्या के निकट उनकी सेवा में जुटी हुई हैं।

भारत में व्याख्यान तथा उपदेश विशेष उपयोगी नहीं होंगे। इस समय क्रियाशील धर्म की जरूरत है। मुसलमानों की भाषा में 'यदि खुदा की मर्जी हुई', तो मैं भी यही दिखाने के लिए कमर कसकर बैठा हूँ।[२८]

अल्मोड़ा, ९ जुलाई १८९७ : मैंने राजा अजीत सिंह के साथ इंग्लैंड जाने का प्रबन्ध किया था, पर डाक्टरों की मनाही के कारण वह निष्फल हुआ। ...

मुझे विभिन्न अमेरिकी अखबारों की बहुत-सी कतरनें मिलीं, जिनमें अमेरिकी नारियों के बारे में मेरी उक्तियों की खूब निन्दा की गयी है। मुझे यह अनोखी खबर भी मिली कि मैं अपनी जाति से निकाल दिया गया हूँ ! मानो मेरी कोई जाति भी थी, जिससे निकाला जाता ! संन्यासी की जाति कैसी?

जातिच्युत होना तो दूर रहा, मेरे पश्चिमी देशों में जाने से यहाँ समुद्रयात्रा के विरुद्ध जो भाव थे, वे बहुत कुछ दब गये। ... मेरे पूर्वाश्रम की जाति के एक विशिष्ट राजा ने मेरी अभ्यर्थना के लिए एक दावत की, जिसमें उस जाति के बहुत-से गण्यमान्य लोग उपस्थित थे। ... अनेक राज-वंशधरों तक ने इन पैरों को धोया, पोंछा और पूजा है; और देश के

एक छोर से दूसरे छोर तक मेरा ऐसा सत्कार होता रहा, जो अब तक किसी को नसीब नहीं हुआ।

इतना कहना ही काफी होगा कि जब मैं रास्तों से होकर निकलता, तब शान्तिरक्षा के लिए पुलिस की जरूरत पड़ती थी ! जातिच्युत करना इसे ही कहते होंगे न ! ...

मैंने कभी कोई योजना नहीं बनायी। घटनाएँ जैसी होती गयीं, मैं उनका वैसा ही उपयोग करता गया। एक ही चिन्ता मेरे मस्तिष्क में दहक रही थी, वह यह कि भारतीय निम्न जातियों को उठाने के लिए एक यन्त्र बनाऊँ। वह कुछ हद तक फलीभूत हो चुकी है। तुम्हारा हृदय यह देखकर आनन्द से प्रफुल्लित हो उठता कि किस प्रकार मेरे बच्चे दुर्भिक्ष, व्याधि और दुःख-कष्ट के बीच में काम कर रहे हैं – हैजे से पीड़ित अछूतों की चटाई के पास बैठ उसकी सेवा कर रहे हैं; भूखे चाण्डालों को खिला रहे हैं – और प्रभु मेरी और उन सब की सहायता कर रहे हैं। मैं क्या मनुष्य की बात मानता हूँ? वे ही प्रेमास्पद प्रभु सदैव मेरे साथ हैं – जब मैं अमेरिका में था, जब मैं इंग्लैंड में था और जब भारत में दर-दर घूमता था, जहाँ मुझे कोई भी नहीं जानता था – वहाँ प्रभु ही मेरे साथ रहे। लोग क्या कहते हैं – इसकी मुझे क्या परवाह? वे तो अबोध बालक हैं, वे इससे अधिक क्या जानेंगे? क्या ! आत्मा का साक्षात्कार करनेवाला और सारे सांसारिक प्रपंचों की असारता जाननेवाला मैं बच्चों की तोतली बोलियों से अपने मार्ग छोड़ दूँ? मुझे देखने से क्या ऐसा ही लगता है?

मुझे अपने बारे में बहुत कुछ कहना पड़ा, क्योंकि मुझे तुमको कैफियत देनी थी। मैं जानता हूँ कि मेरा कार्य समाप्त हो चुका – आयु के अधिक-से-अधिक तीन या चार वर्ष और बचे हैं। मुझे अब अपनी मुक्ति की इच्छा बिलकुल नहीं है। सांसारिक भोग तो मैंने कभी चाहे ही नहीं ! मुझे सिर्फ अपने यंत्र को मजबूत और कार्योपयोगी देखना है; और फिर निश्चित रूप से यह जानकर कि कम-से-कम भारत में मैंने मानव-जाति के कल्याण का एक ऐसा यंत्र स्थापित कर दिया है, जिसका कोई शक्ति नाश नहीं कर सकती, मैं सो जाऊँगा और आगे क्या होनेवाला है, इसकी परवाह नहीं करूँगा। मेरी अभिलाषा है कि मैं बारम्बार जन्म लूँ और हजारों दुःख भोगता रहूँ, ताकि मैं उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है अर्थात् सम्पूर्ण आत्माओं के समष्टिरूपी ईश्वर की। सबसे बढ़कर – सभी जातियों और वर्णों के पापी, तापी और गरीब-रूपी ईश्वर ही मेरा विशेष उपास्य है। ...

मेरे पास समय कम है और मुझे जो कुछ कहना है, सब साफ-साफ कह देना होगा – उससे किसी को पीड़ा हो या क्रोध, इसकी मुझे क्या परवाह? इसलिए ... यदि मेरे मुँह से कुछ कड़ी बातें निकल जायँ, तो घबराना मत, क्योंकि मेरे पीछे जो शक्ति है, वह विवेकानन्द नहीं, अपितु स्वयं ईश्वर है; और वही सबसे ठीक जानता है। यदि मैं संसार को खुश करने चला, तो इससे उसे हानि ही पहुँचेगी। ... हर नवीन भाव विरोध की सृष्टि अवश्य करेगा – सभ्य समाज में वह शिष्ट उपहास के रूप में व्यक्त होगा और बर्बर समाज में नीच चिल्लाहट और घृणित बदनामी के रूप में।[२९]

अल्मोड़ा, १० जुलाई १८९७ : दुर्भिक्ष-पीड़ित विभिन्न जिलों में हमारे साथियों ने कार्य प्रारम्भ कर दिया है और मैं यहाँ बैठकर उसके संचालन में काफी व्यस्त हूँ।

भाषणों और व्याख्यानों से परेशान होकर मैंने हिमालय का आश्रय लिया है। डॉक्टरों द्वारा खेतड़ी के राजा साहब के साथ मुझे इंग्लैंड जाने की अनुमति न दिये जाने के कारण मैं बड़ा दुखी हूँ; और स्टर्डी भी इससे बड़ा क्षुब्ध हो उठा है। ...

इस वर्ष तिब्बत जाने की प्रबल इच्छा थी, पर इन लोगों ने जाने की अनुमति नहीं दी, क्योंकि वहाँ का पथश्रम बहुत अधिक है। अस्तु, खड़े पहाड़ पर पूरी रफ्तार से पहाड़ी घोड़ा दौड़ाकर ही मैं सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारे साइकल से यह अधिक उन्मादक है; यद्यपि विम्बलडन में मुझे उसका भी खासा अनुभव हो चुका है। मीलों तक चढ़ाई-उतराई – जिसका रास्ता मात्र कुछ ही फुट चौड़ा और मानो पहाड़ से जुड़कर नीचे हजारों फुट गहरी खाई के ऊपर टँगा हुआ ! ...

मद्रास से शीघ्र ही एक पत्रिका (ब्रह्मवादिन्) का प्रकाशन आरम्भ होगा; गुडविन इस कार्य के लिए वहाँ गया हुआ है।[३०]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१९. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ५१-२; **२०.** The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, 1989, Vol 2, P. 253; **२१.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ३१७; **२२.** वही, खण्ड ६, पृ. ३१९; **२३.** वही, खण्ड ६, पृ. ३२१; **२४.** वही, खण्ड ६, पृ. ३२३; **२५.** वही, खण्ड ६, पृ. ३३१; **२६.** वही, खण्ड ६, पृ. ३३६; **२७.** वही, खण्ड ६, पृ. ३३७; **२८.** वही, खण्ड ६, पृ. ३४१; **२९.** वही, खण्ड ६, पृ. ३४२; **३०.** वही, खण्ड ६, पृ. ३४८;

रामराज्य की भूमिका (८/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

श्रद्धेय स्वामीजी महाराज, उपस्थित रामकथा रसिक बन्धुओं, भक्तिमति देवियों, श्रीराम-चरित-मानस में रामराज्य की स्थापना के विविध पक्ष हमारे सामने आते हैं। रामराज्य केवल बहिरंग व्यवस्था का नाम नहीं है। रामराज्य वस्तुत: बाह्य और आन्तर – दोनों ही जीवनों की परिपूर्णता में निहित है।

रामकृष्ण मिशन के प्रति मेरा जो एक विशेष आकर्षण है, उसके पीछे एक रहस्य है। कभी मैंने श्रीरामकृष्ण देव की जीवनी, उनके वचनामृत या उनसे जुड़े अन्य महापुरुषों के विषय में पढ़ा था। कल कथा के बाद श्रद्धेय स्वामीजी से सत्संग चल रहा था, तभी यह बात सामने आई कि रामचरित-मानस में निरूपित गोस्वामीजी की और रामकृष्ण मिशन की विचारधारा में इतना अधिक साम्य है कि बड़ा आश्चर्य होता है। मैं तो यही कहूँगा कि रामकृष्ण मिशन का सेवाकार्य, जो आन्तरिक और बाह्य जीवन की परिपूर्णता के लिये प्रयत्न है, वह रामराज्य की स्थापना का ही एक प्रयास, एक भाग है।

रामराज्य की स्थापना एक लम्बी प्रक्रिया है। यह सरलता से सम्पन्न नहीं होती। इसके लिये बड़ी दीर्घकालीन साधना की आवश्यकता है। आज की भाषा में कहें, तो रामराज्य एक समग्र क्रान्ति है। पर केवल बहिरंग जीवन में क्रान्ति नहीं, अपितु हमारी विचारधाराओं में, जब हमारी भावनाओं और क्रियाओं में पूरा परिवर्तन आता है, तभी रामराज्य की स्थापना होती है। भगवान राम और भरतजी के द्वारा जो क्रान्ति सम्पन्न हुई, उसके दो पक्ष हैं। एक ओर तो भगवान श्रीराम को लंका के विरुद्ध युद्ध और संघर्ष करना पड़ा, तो क्रान्ति का एक पक्ष यह भी है। दूसरी ओर क्रान्ति शब्द के साथ प्राय: कठोरता या संहार की प्रक्रिया जुड़ी हुई है। भगवान श्रीराम के चरित्र में वह क्रान्ति एक भिन्न रूप में ही सम्पन्न हुई। उसी क्रान्ति को भरतजी ने पूरी तौर से साकार करके समाज के जीवन में प्रतिष्ठापित किया। उन्होंने इस तरह इसका विभाजन किया कि एक ओर भगवान श्री राघवेन्द्र को लंका के विरुद्ध युद्ध करना पड़ता है और दूसरी ओर अयोध्या में कोई बहिरंग युद्ध नहीं होता, पर भावनाओं की दृष्टि से देखें, तो दोनों स्थानों में दो विभिन्न पद्धतियों से इसे पूर्णता प्रदान की गई। गोस्वामीजी ने इन दोनों को दो रूपों में प्रस्तुत किया। मानस-रोगों के प्रसंग में गोस्वामीजी कहते हैं कि ये दुर्गुण मन के रोग हैं। इसका विस्तार करते हुए उन्होंने कहा कि मोह ही समस्त व्याधियों का मूल है और उसी से अनेक तरह के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं – काम वात है, लोभ कफ है, क्रोध पित्त है, ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली है, हर्ष-विषाद गले के रोग हैं, दूसरों के सुख से जलन क्षयरोग है, दुष्टता तथा कुटिलता कोढ़ है, अहंकार अति दुखदायी गठिया है; दम्भ, कपट, मद और मान नहरुआ (नसों के) रोग है, तृष्णा उदरवृद्धि (जलोदर) है और तीन प्रकार (पुत्र, धन और मान) की प्रबल इच्छाएँ तिजारी हैं –

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।
काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौ तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई।।
अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दंभ कपट मद मान नेहरुआ।। ७/१२०/२९-३२

उपरोक्त शब्दों में मन के रोगों का वर्णन किया गया। इस प्रकार उन्होंने मन के रोगों (दुर्गुणों) की तुलना शरीर के रोगों से की है। दूसरी ओर उन्होंने इन दुर्गुणों की तुलना राक्षसों से भी की। इन्हीं मोह आदि दुर्गुणों का चित्र राक्षसों के रूप में प्रस्तुत करते हुए वे 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं, यहाँ भी क्रम मिलता जुलता है। रामचरित-मानस में वे मोह को सभी व्याधियों का मूल बताते हैं और विनय-पत्रिका में लंका के स्वामी रावण को मोह का प्रतीक बताते हैं।

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहंकार
पाकारिजित काम विश्रामहारी।। विनय., ५८/४

मोह ही रावण है, अहंकार ही कुम्भकर्ण है और काम ही मेघनाद है। इस प्रसंग में अन्य दुर्गुणों का वर्णन भी उन्होंने राक्षसों के रूप में किया है। स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि इन दुर्गुणों को एक ओर 'रोग' कहना और दूसरी ओर 'राक्षस' कहना – इनमें थोड़ी भिन्नता दिखाई देती है। इसे मैं सूत्र के रूप में यूँ कहना चाहूँगा कि अयोध्या में जो दुर्गुण हैं,

वे रोग के रूप में हैं; और लंका में जो दुर्गुण हैं, वे राक्षसों के रूप में हैं। दुर्गुणों में समानता दिखाई देने पर भी व्यक्तियों के दुर्गुणों में भिन्नता होती है। कुछ व्यक्तियों के जीवन में दुर्गुण इस रूप में होता है कि हम कह सकते हैं कि इस व्यक्ति के अन्त:करण में राक्षसत्व है; और कुछ लोगों के जीवन में वे ही दुर्गुण होते हैं, पर लगता है कि यह व्यक्ति राक्षस नहीं, रोगी है। अयोध्या और लंका का भी अन्तर यही है। दोनों ही स्थानों में दुर्गुण विद्यमान हैं। इसके पीछे सत्य यह है कि कोई भी ऐसा दावा नहीं कर सकता कि उसके जीवन में ये दोष नहीं हैं। गोस्वामीजी ने खुली चुनौती देते हुए कहा – ये सबको होते हैं, परन्तु इन्हें कोई बिरला ही जान पाता है –

हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए ।। ७/१२२/२

ये हर प्राणी के भीतर हैं। तो उनमें भिन्नता है या नहीं? भिन्नता वही है – रोग और राक्षसत्व की। रोगी को अपने रोग से पीड़ा होती है। वह रोग को नष्ट करने के लिए व्यग्र होता है, वैद्य या डॉक्टर के पास जाता है और चाहता है कि उसका रोग दूर हो। तो दुर्गुण होते हुए भी, जिनके जीवन में ग्लानि हो, पीड़ा हो, पश्चाताप हो, जो यह समझते हैं कि मेरे जीवन में यह दुर्गुण है – यह पहली बात हुई। दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपने दुर्गुणों की बात को स्वीकार करना तो दूर रहा, अपने दुर्गुणों पर ही गर्व करते हैं। समाज में ये दोनों ही प्रकार के व्यक्ति होते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या दोनों से एक ही तरह का व्यवहार किया जाना चाहिए?

भगवान राम का लक्ष्य युद्ध या विनाश नहीं है। वे चाहते हैं कि व्यक्ति स्वयं अपने जीवन में बुराइयों को अपने से दूर करने के लिए व्यग्र हो और यदि वह अपनी बुराइयों पर पश्चाताप करे, तो उसे बदलने का अवसर दिया जाना चाहिए। अन्यथा रावण जैसे व्यक्ति के पास इस प्रकार दो दूतों की आवश्यकता नहीं थी। पर रावण जैसे लोगों के जीवन की विडम्बना यह है कि इन दूतों को भेजने पर भी रावण ने इसको भगवान राम की दुर्बलता के रूप में देखा। इसीलिए उसने अंगद से कहा – क्या समर्थ व्यक्ति दूत के द्वारा सन्धि-प्रस्ताव भेजता है? समर्थ व्यक्ति तो बलपूर्वक अपनी बात मनवाता है। सन्धि सबल की ओर से नहीं, दुर्बल की ओर से की जाती है। रावण सन्धि को दुर्बलता का चिह्न मानता है और इसीलिये वह अंगद से कहता है कि यदि तुम्हारा स्वामी सचमुच इतना बलवान है, तो मैं पूछना चाहता हूँ कि शत्रु से युद्ध किया जाता है या प्रीति की जाती है? –

तौ बसीठ पठवत केहि काजा ।
रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा ।। ६/२८/७

तुम्हारा स्वामी यदि मुझसे प्रीति करना चाहता है, सन्धि करना चाहता है, तो इससे सिद्ध हो जाता है कि वह भयभीत है, इसीलिये वह सन्धि का प्रस्ताव भेजता है। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में, समाज में रावण जैसे लोग भी होते हैं, जिनके लिये संघर्ष ही सब कुछ है, शत्रु से बदला लेना ही सब कुछ है। कई लोग यही मान कर चलते हैं कि शत्रु से बदला लेना ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। पर शत्रु से केवल बदला लेने की वृत्ति राक्षसी वृत्ति है। भगवान राघवेन्द्र पहले हनुमानजी को और बाद में अंगद को भेजते हैं। जाने के पूर्व अंगद ने भगवान से पूछा – रावण से जब मैं वार्तालाप करूँ, तो किस रूप में करूँ? क्या वाक्य है भगवान राम का! उन्होंने कहा – रावण मुझे शत्रु मानता है। पर उससे वार्तालाप करते हुए भी यह ध्यान रखना कि मुझे कोई अपनी वीरता या विजय के प्रदर्शन की इच्छा नहीं है। मैं चाहता हूँ कि रावण में परिवर्तन आ जाय। वह बदल जाय। मैं चाहता हूँ कि मेरा उद्देश्य पूरा हो, उसके साथ-ही-साथ उसका भी उपकार हो –

काजु हमार तासु हित होई ।
रिपु सन करेहु बतकही सोई ।। ६/१७/८

श्री राघवेन्द्र चाहते हैं कि स्वयं व्यक्ति के भीतर उसके विचारों में परिवर्तन हो, उनमें बुराइयों पर अभिमान करने के स्थान पर, उनके मन में पश्चाताप और ग्लानि हो। हनुमानजी और अंगद जब रावण से कहते हैं कि वह अपनी दोषों को स्वीकार करके भगवान की शरण में चला जाय, तो उनका अभिप्राय यह है कि पहले ही तुमसे इतनी बड़ी भूल हो चुकी है, परन्तु इसके बावजूद यदि तुम भगवान श्रीराम की शरण में जाओगे, तो वे तुम्हारे पुराने अपराधों के लिए तुम्हें कोई दण्ड नहीं देंगे। वाल्मीकि रामायण में है कि जब विभीषणजी शरण में आए, तो उनकी शरणागति का विरोध किया गया कि यह राक्षस जाति में उत्पन्न हुआ है, रावण का छोटा भाई है, अत: इसे शरण में लेना उचित नहीं होगा। पर वाल्मीकि रामायण में भगवान ने और रामचरित-मानस में हनुमानजी ने जो वाक्य कहा उनमें स्पष्ट संगति है। यदि भगवान राम का संघर्ष किसी देश या जाति के विरुद्ध होता, तो भगवान राम न विभीषण को अपना मित्र बनाते और न ही उन्हें लंका का राज्य देते। उनके मन में न तो किसी देश के विरुद्ध द्वेष है, न किसी जाति के विरुद्ध और न किसी व्यक्ति के विरुद्ध। समाज में बहुधा दूसरे के देश के प्रति, दूसरे जाति या दूसरे व्यक्ति के प्रति द्वेष होता है, पर भगवान राम के व्यक्तित्व में किसी के भी प्रति किसी तरह का द्वेष नहीं है। ऐसी स्थिति में भगवान राम जो परिर्वतन चाहते हैं, उसके लिए उन्होंने दो दूतों को चुना। उनमें हनुमानजी को पहले भेजना भी सांकेतिक है। वे शंकरजी के अवतार हैं। भगवान राम हनुमानजी को भेजकर मानो यह निर्णय करना चाहते हैं कि लंका में रोगी हैं या राक्षस। यह जानने के लिए उन्होंने चुनाव कितना सुन्दर किया? यद्यपि सबको ऐसा स्मरण तो नहीं रहता कि मन के

रोगों को दूर करने के लिये वैद्य की आवश्यकता होती है। और सद्गुरु ही वैद्य हैं। जैसे हम शरीर के रोगों को दूर करने के लिए शरीर के रोगों के विशेषज्ञ वैद्य के पास जाते हैं, वैसे ही जब हमें मन के रोगों को दूर करना हो, तो हमें सद्गुरु का आश्रय होना चाहिए। परन्तु इसमें भी एक विडम्बना है। – क्या? जब हम वैद्य के पास जाते हैं, तो अपनी प्रशंसा सुनने के लिये जाते हैं या अपनी कमी सुनने के लिये। आजकल तो जो लोग गुरु बना भी लेते हैं, वे चेले भी गुरु के पास रोग सुनने नहीं, अपनी प्रशंसा ही सुनने जाते हैं। अब यदि हम किसी वैद्य के पास जायँ और वैद्य कहने लगे कि आपकी आँखें तो कमल की तरह हैं, आपकी नाक तो बड़ी सुन्दर है, तो क्या आप प्रसन्न होंगे कि वाह, बड़े अच्छे वैद्य हैं? आप तो रोगग्रस्त हैं, आपको पीड़ा है, तो वैद्य यह बतावेगा कि आपको अमुक रोग हुआ है, आपको मैं यह दवा देता हूँ, यह पथ्य करना है। गुरु की भूमिका भी यही है। जब हम सद्गुरु का वरण करें, तो अपनी कमियों, अपने दोषों और अपने रोगों को जानने के लिए करें। रावण की समस्या यही है। उसने भी सद्गुरु बनाया तो है। संसार का जो सबसे बड़ा सद्गुरु हो सकता है, वे भगवान शंकर केवल कुछ लोगों के गुरु नहीं, तीनों लोकों के गुरु हैं –

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना ।। १/१११/५

संसार में सबसे बड़ा सद्गुरु यदि कोई है, तो वे भगवान शंकर हैं और रावण ने उनका वरण किया है। पर उससे क्या लाभ हुआ? उसे समझाने भगवान ने हनुमानजी को क्यों भेजा? हनुमानजी भगवान शंकर के अवतार हैं। बोले – शिष्य को यदि रोग हो, तो गुरु को उसे दूर करना चाहिए। अत: रावण यदि सचमुच रोगी है, तो तुम वैद्य के रूप में जाकर, दवा देकर उसको ठीक करने की चेष्टा करो। और यदि वह रोगी नहीं, राक्षस होगा, तो बाद में इसके दूसरे पक्ष पर विचार किया जायगा। हनुमानजी जैसा वैद्य रावण की सभा में गया। उन्हें बाँधकर ले जाया गया। वैद्य का इतना अपमान तो कहीं हुआ ही नहीं होगा। इसीलिए सुषेण वैद्य सदा सावधान रहते थे। लंका में वैद्य का कोई उपयोग नहीं है, वहाँ वैद्य केवल शोभा की वस्तु है। सुषेण वैद्य ने यदि चिकित्सा की, तो भगवान राम के छोटे भाई की; रावण के परिवार के किसी सदस्य की चिकित्सा नहीं की। बड़ी विचित्र बात है न! रावण का वैद्य, पर उसका उपयोग क्या है? रावण के जीवन में गुरु का उपयोग क्या है? वह तो सद्गुरु को भी शोभा की ही वस्तु मानकर अपने अहं की वृद्धि करता है। हनुमानजी रस्सी से बाँधकर रावण की सभा में लाए गये। रावण सिंहासन पर बैठा है। उनका उठकर स्वागत करने की कौन कहे, उनकी हँसी की जा रही है, व्यंग्य कसे जा रहे हैं। पर वैद्य इतने उदार हैं कि एक ही दोहे में उन्होंने रावण को उसका रोग, पथ्य और दवा भी बता दी। मन के रोगों के सन्दर्भ में कहा गया है – सद्गुरु वैद्य हैं, उनके वचनों पर विश्वास ही गुरु का सदुपयोग है। पथ्य क्या है? – विषयों का त्याग। दवा क्या है? – भगवान की भक्ति। अनुपान क्या है? – श्रद्धा। जब इस प्रकार भक्ति की औषधि को श्रद्धा के अनुपान में मिलकर विषयों के प्रति आकर्षण रूप कुपथ्य का परित्याग करके कोई मन के रोगों की चिकित्सा चाहता है, तो सद्गुरु की कृपा से मन के रोग दूर होते हैं –

सदगुर बैद बचन बिस्वासा ।
संजम यह न बिषय कै आसा ।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी ।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी ।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं ।
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ।। ७/१२१/६-८

हनुमानजी ने एक ही दोहे में रावण के मोहरूपी रोग का निदान करके 'भजन' को औषधि बताते हुए रावण से कहा –

मोह मूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान
भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान ।। ५/२३

इसे आप मानस-रोग के प्रसंग से भी मिला सकते हैं –

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला ।।

हनुमानजी ने रावण से कहा कि तुम्हें मोह हो गया है। तुम्हारे जीवन में जितने रोग हैं उसके मूल में मोह है। याद रखो, यह मोह बड़ा ही पीड़ादायी है, मोह का ऐसा स्वरूप है कि मोह से ही सारे दुर्गुण उत्पन्न होते हैं और तुम्हारी वही स्थिति हो गई है। पहले पथ्य बता दिया और उसके बाद दवा। क्या बताया? – तमोगुणी अभिमान को त्याग दो –

त्यागहु तम अभिमान ।। ५/२३

बड़े उदार वैद्य हैं। कई वैद्य बड़े कठिन पथ्य बताते हैं और कुछ वैद्य पथ्य बताने में मनुष्य के प्रकृति को ध्यान में रखते हैं। पथ्य यदि इतना कठिन बता दिया जाय कि रोगी बिल्कुल निराश हो जाय, तो शायद ही कोई उसका पालन कर सकेगा। अधिकांश लोगों को लगेगा कि यह तो असम्भव है। इसीलिये रावण से पथ्य बताने में हनुमानजी इतने सन्तुलित हैं। वे कह सकते थे कि अभिमान ही कुपथ्य है। तुम अभिमान छोड़ दो, पर हनुमानजी ने संशोधन किया – केवल तमोगुणी अभिमान को त्याग दो। तात्पर्य यह कि यदि पूरी तौर से अभिमान न छोड़ सको, तो सतोगुणी और रजोगुणी अभिमान रहने दो, पर तमोगुणी अभिमान तो अवश्य छोड़ दो। इतने उदार वैद्य हैं, कह दिया कि पूरा छोड़ नहीं सकोगे, तो कितने संक्षेप कर दिया। कह दिया – तमोगुणी अभिमान को त्याग दो और औषधि के रूप में भगवान का भजन करो।

ऐसा वैद्य, ऐसा सद्गुरु आया, पर समस्या यह है कि रावण यदि अपने को रोगी मानता, तो वह हनुमानजी के

चरणों में गिर पड़ता और कहता – मुझसे बड़ी भूल हुई है, मैं अपनी भूल का परित्याग करूँगा। पर वह तो बड़ा अनोखा व्यक्ति है, वह राक्षस है और उसमें राक्षसी वृत्ति है। हनुमानजी ने तो उसके हित की बात कही, पर वह? वह तो खूब जोरों से हँसने लगा। – क्यों? बोले – हनुमानजी उससे तमोगुणी अभिमान छोड़ने के लिए कह रहे हैं और उसका अभिमान बढ़ता ही जा रहा है, जैसे वैद्यजी किसी चीज को खाने से मना करें और रोगी उसी को उनके सामने ही और अधिक खाने लगे। रावण ने यह तो समझ ही लिया कि हनुमानजी गुरु की भाषा बोल रहे हैं, लेकिन उसका अभिमान यह कहता है कि मैं संसार में इतना बड़ा पण्डित हूँ और यह बन्दर कहाँ से मेरा गुरु बनने चला आया –

बोला बिहसि महा अभिमानी।
मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी।। ५/२३/२

वह गुरु को जाति में खोज रहा है, आकृति में खोज रहा है और गुरुत्व तो वह है जो न जाति में है, न आकृति में है। ऐसी स्थिति वाला व्यक्ति इसका भी निर्णय करता है कि भगवान किस जाति के हैं, उनकी आकृति और रूप कैसा है! बड़ी विचित्र बात है! यदि रोगी वैद्य से पूछे कि मेरी आयु कितनी बची है और वैद्य बताये, तो ठीक लगेगा। पर यहाँ तो बिल्कुल उल्टी बात है। रावण ने हनुमानजी से कहा – तुम मेरी दवा करने आए हो? मैं तुम्हारा भविष्य बता रहा हूँ। – क्या? – तुम मरने ही वाले हो –

मृत्यु निकट आई खल तोही।। ५/२३/३

अब यदि रोगी वैद्य से कहे कि वैद्यराज, अब आप मरने ही वाले हैं, तो फिर वैद्य उस रोगी को क्या कहे? हनुमानजी समझ गये कि इस रोगी को वैद्य, दवा और पथ्य पर विश्वास नहीं है, अत: हनुमानजी तत्काल बोले – ठीक है, मृत्यु तो होगी, पर किसकी होगी, यह तो बाद में पता लगेगा –

उलटा होइहि कह हनुमाना।। ५/२३/४

रावण ने कह – हम अभी बता देते हैं कि किसकी होगी। उसने राक्षसों को बुलाकर कहा – इसको मार डालो, ताकि इसे पता चल जाय कि मृत्यु किसकी होने वाली है। पर हनुमानजी मुस्कुराते हुए खड़े रहे। सचमुच ही, इसको काव्य की भाषा में कहें, तो मृत्यु हनुमानजी के बगल में खड़ी थी। शंकरजी महाकाल हैं और महाकाल के पास मृत्यु खड़ी हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। पर वह मृत्यु किसलिए खड़ी थी? मृत्यु हनुमानजी से पूछ रही थी कि रावण को अभी खाना है या बाद में? पर रावण समझ रहा था कि इस बन्दर की मृत्यु होने वाली है। हनुमानजी तो अमर हैं –

अजर अमर गुननिधि सुत होहूँ।। ५/१६/३

वे निराश होकर लौट आए और भगवान को बता दिया – महाराज, वह तो रोगी नहीं, पूरा राक्षस है। रोगी को क्या अभिमान होता है? क्या वह अपने रोग पर गर्व करता है? अपने रोग पर जो अभिमान और गर्व करे, वह रोगी नहीं, राक्षस है। फिर भी प्रभु को सन्तोष नहीं होता, वे रावण को एक बार और मौका देते हैं – अच्छा अंगद, तुम जाओ। एक बार तुम दूत बनकर जाओ और अपनी ओर से रावण के हित करने की चेष्टा करो। पर अब भी वहाँ वही स्थिति है। हनुमानजी ने एक पद्धति से और अंगद ने दूसरी पद्धति से भगवान की भक्ति का ही उपदेश दिया। जब उन्होंने रावण की सभा में अपने चरण रोप दिए और कहा कि यदि तुम या तुम्हारी सभा का कोई भी व्यक्ति मेरे चरण को हटा देगा, तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा और श्रीराम लौट जाएँगे। क्या अंगद अपने शौर्य और बल का प्रदर्शन करने के लिए व्यग्र थे? क्या वे यह दिखाना चाहते थे कि मैं कितना शक्तिशाली हूँ, कितना बलवान हूँ? यदि ऐसा होता, तो अंगद भी एक अभिमानी व्यक्ति के जैसे ही होते। पर अंगद की विशेषता ज्ञात हो गई। हर राक्षस ने चेष्टा की और अंगद मुस्कुराते हुए देखते रहे, पर सबसे अन्त में जब रावण उठा, तो अंगद यदि चाहते, तो रावण को अपने चरणों में झुकने देते और चरण उठाने की चेष्टा करने देते। रावण के लिए भी यह सम्भव नहीं था कि वह अंगद का चरण उठा सके। पर पता चल गया कि अंगद का उद्देश्य आत्म-विज्ञापन नहीं है। वे तो अपने बल के माध्यम से भी वस्तुत: प्रभु की महिमा का ही प्रचार कर रहे हैं। बस, यही मूल सूत्र है। व्यक्ति अपना विज्ञापन कर रहा है या फिर अपने सद्गुणों के माध्यम से व्यक्ति का ध्यान भगवान की ओर आकृष्ट कर रहा है। सन्त और असन्त में बस यही अन्तर है। रावण ज्योंही झुकने लगा, अंगद ने उसे याद दिला दिया – तुम्हें भगवान के चरण पकड़ने में संकोच है, पर बन्दर का चरण पकड़ने में संकोच नहीं है – यह तुम्हारी कितनी बड़ी मूर्खता है? जरा तुम विचार करके तो देखो –

गहत चरन कह बालिकुमारा।
मम पद गहें न तोर उबारा।। ६/३५/२

अंगद का उद्देश्य यह था कि किसी भी प्रकार से रावण के अन्त:करण में भगवान की महिमा का, उनके महत्त्व का बोध हो। हनुमानजी का भी उद्देश्य यही है। उनके द्वारा लंका जलाने का उद्देश्य भगवान के सामर्थ्य का परिचय देना है और अंगद का उद्देश्य भी वही है। यदि रावण रोगी होता, तो उसका रोग इन औषधियों से दूर हो जाता। परन्तु वह तो कभी न बदलनेवाला और अपने दुर्गुणों पर गर्व करनेवाला राक्षस है। जिसको अपने दुर्गुणों पर गर्व है, ऐसे व्यक्ति को क्षमा करने में, न तो उसका कल्याण है और न ही समाज का हित है। ऐसी स्थिति में भगवान राम को शस्त्र उठाना पड़ा, युद्ध करना पड़ा और सृष्टि को बदलना पड़ा।

समाज में, पहले तो यह निर्धारित किया जाना चाहिए कि कौन-सा व्यक्ति मन की दुर्बलताओं से पीड़ित है और कौन मन-बुद्धि से पूर्णत: अपराधी और अहंकारी है। फिर जो लोग अपने दुर्गुणों को सद्गुण मानकर उन पर गर्व करते हैं, उनके लिए दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। इसको भी एक तरह की चिकित्सा ही कह सकते हैं। चिकित्सा-शास्त्र में भी बताया गया है कि यदि किसी में दोष आ गया है, तो दवा देकर उस दोष के निराकरण की चेष्टा होनी चाहिये, पर ऐसी भी स्थिति आती है, जब शस्त्र उठाकर, हाथ में छुरी लेकर शल्य-क्रिया करनी पड़ती है। डॉक्टर को रोगी का अंग तक काटना पड़ता है। तात्पर्य यह कि रोग यदि औषधि से दूर न हो, तो जो अंग शरीर के विनाश पर तुला हुआ है, उस अंग का शस्त्र के द्वारा उच्छेद भी करना पड़ेगा। इसी प्रकार जो लोग समाज के नाश पर तुले हुए हैं, जिन्हें अपने अपराध का पश्चाताप नहीं है, उनके परिवर्तन की चेष्टा में, भगवान राम ने उन्हें दण्डित करने की प्रक्रिया को भी स्वीकार किया। परन्तु यह दण्ड भी उनका उद्देश्य नहीं था। विभीषण की शरणागति के प्रसंग में भगवान राम मानो कहते हैं – सुग्रीव, मेरे मन में कोई जातीय बैर नहीं है, तुम कहते हो कि रावण का भाई आया है, पर मैं तो तुमसे कहता हूँ कि रावण का भाई ही नहीं, यदि स्वयं रावण भी आया हो, तो उसे ले आओ। हम उसे भी अस्वीकार नहीं करेंगे – **यदि वा रावण स्वयम्** ।

यह श्रीराम की उदारता है। उनमें असीम धैर्य है और वे चाहते हैं कि व्यक्ति में परिवर्तन हो, वे भी अवसर देते हैं, पर इसकी भी एक सीमा है। एक सीमा के बाद यह उदारता तथा धैर्य भी कायरता बन जाती है और प्रतिकूल परिणाम की सृष्टि करती है। उदारता तथा धैर्य के साथ शौर्य भी अपेक्षित है। अन्तत: श्री राघवेन्द्र शस्त्र भी उठाते हैं। इस यात्रा के सन्दर्भ में भगवान ने मानो इसी तथ्य को प्रगट किया।

दूसरी ओर भरतजी की भूमिका क्या है? अयोध्या में भी रोग है। वहाँ भी मोह है। एक मोह लंका में रावण के रूप में है और एक मोह अयोध्या में भी है। यहाँ भी ममता है। यहाँ भी अहंकार है। सारी चीजें अयोध्या में भी दिखाई देती हैं। कैकेयी में अहंकार है और ममता भी। महाराज दशरथ में काम की वृत्ति है और कैकेयी में लोभ की भी वृत्ति है। दुर्गुण यहाँ भी दिखाई दे रहे हैं, पर अयोध्या के लोग रोगी हैं। कैकेयी में दोष हैं, पर उनमें राक्षसत्व नहीं है। महाराज दशरथ में काम है, पर उनमें राक्षसत्व नहीं है। किन्तु साथ ही यह तो स्वीकारना ही पड़ेगा कि वे मन से रोगी हैं। और तब क्या हुआ? दो भाइयों में बँटवारा हुआ करता है न! चित्रकूट में भगवान राम ने भरतजी से कहा – जब अलग-अलग रहेंगे, तो बँटवारा तो होगा ही। अत: हमारे-तुम्हारे बीच भी बँटवारा हो जाना चाहिए। संसार और समाज में जो बँटवारा होता है, वह तो सम्पत्ति का होता है, परन्तु यहाँ एक अन्तर है। भगवान राम कहते हैं – भरत, हमारे-तुम्हारे बीच सम्पत्ति को लेकर तो कोई विवाद नहीं है। न तुम सम्पत्ति के लिए व्यग्र हो, न मैं। पर एक वस्तु ऐसा है, जिसके बँटवारे के लिये लोग उत्सुक नहीं होते, तो आओ हम दोनों भाई मिलकर उसी का बँटवारा कर लें। वह बँटवारा किस वस्तु का है? भगवान राम कहते हैं – आओ, हम दोनों मिलकर विपत्ति का बँटवारा कर लें –

बाटिय बिपति हमहि दुई भाई ।।

प्रभु बोले – भरत, इस विपत्तियों के बँटवारे में विपत्ति का अधिक भाग मैं तुम्हें दूँगा। तुम्हारी भूमिका, तुम्हारा कार्य अत्यन्त कठिन है। तो व्यापक अर्थों में यहाँ भरतजी की भूमिका क्या है? भगवान राम जो परिवर्तन चाहते हैं, वैचारिक और मन के परिवर्तन में जो कठिनाई आती है, उसमें भरतजी की भूमिका के लिये रामायण में भरतजी को एक उपाधि दी गई है। अयोध्या से चित्रकूट की यात्रा में पूछा गया – पहले भगवान राम गये, बाद में भरतजी गये। मार्ग में लोगों ने भगवान राम का दर्शन किया और भरतजी का भी दर्शन किया। इन दोनों दर्शनों में कोई अन्तर है क्या? तो वहाँ पर गोस्वामीजी ने एक सूत्र दे दिया – जिन्होंने भी श्रीराम का दर्शन किया और जिन पर उनकी दृष्टि पड़ी, वे सब मुक्ति के अधिकारी हो गये –

जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ।।
ते सब भए परम पद जोगू । २/११६/१-२

गोस्वामीजी स्वीकार करते हैं कि मुक्ति से बड़ी वस्तु और कुछ नहीं है, तो भी वे कहते हैं कि एक वस्तु के बिना मुक्ति-सुख का अनुभव नहीं किया जा सकता। दृष्टान्त के रूप में कह सकते हैं कि मान लीजिये आपके सामने भूख मिटाने के लिए सुस्वादु और स्वास्थ्यवर्धक भोजन परोस दिया जाय, तो वस्तु बहुत ही अच्छी है, पर आपको वह वस्तु पचाने की जरूरत पड़ेगी या नहीं? यदि आपके पेट में उसे पचाने की शक्ति न हो, तो उस व्यंजन को आप ले नहीं सकेंगे, खा नहीं सकेंगे और खाने से, न पचा पाने के कारण आप रोगी होंगे।

इसी प्रकार मुक्ति और ज्ञान व्यंजन हैं, पर मुक्ति और ज्ञान के व्यंजन को पचाने के लिये एक वस्तु की आवश्यकता है। किस वस्तु की? जैसे राहु भी तो अमृत पाकर अमर हो जाता है, पर क्या राहु हमारा आदर्श हो सकता है? हम राहु को अमर भले ही मान लें, उसकी पूजा भले ही कर लें, पर जब भी गणना करेंगे, तो उसकी खल-ग्रह या पाप-ग्रह के रूप में ही गणना करेंगे। राहु हमारा आदर्श नहीं हो सकता।

❖ **(क्रमशः)** ❖

गहरे पानी पैठ

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

हिन्दी में एक कहावत है –

बिना बिचारै जो करै सो पाछे पछिताय।
काम बिगाड़ै आपनो जग में होत हँसाय।।

जब मैं जीवन की ओर दृष्टिपात करता हूँ, तो यह कहावत कितनी सत्य मालूम पड़ती है ! हम जल्दी में निर्णय लेकर कोई क्रिया कर बैठते हैं और जीवन-भर उसके फलस्वरूप बिसुरते रहते हैं। जब हम बचपन में कोई काम जल्दी-जल्दी कर लेना चाहते थे, तो घर के बड़े-बूढ़े कहते थे, 'जल्दी का काम शैतान का'। उस समय तो बात समझ में नहीं आती थी, पर बाद में प्रतीति होती थी कि हाँ, जल्दबाजी करके हमने कितनी बड़ी भूल कर ली है !

हम कभी व्यक्ति की किसी एक छोटी-सी क्रिया को देखकर उसके सम्बन्ध में एक मत बना लेते हैं। हमें लगता है कि वह कितना अहंकारी है, अपने को बड़ा मानता फिरता है, और शायद हम ऐसा सोचकर उसके प्रति अवांछित क्रिया कर बैठते हैं। जब उसके साथ थोड़ी-सी घनिष्ठता यह बताती है कि वह अहंकारी नहीं, बल्कि संकोची है और संकोच के कारण अपने को अलग-थलग रखता है, तब हमें अपनी भूल मालूम होती है और हमें अपने किये का पश्चाताप होता है।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। एक गृहिणी पानी भरने कुएँ पर गयी थी। घर में उसका छोटा-सा बच्चा सोया हुआ था। उसके घर में एक पालतू नेवला था। जब वह पानी भरकर आयी, तो नेवला दौड़कर दरवाजे पर आया और अपना मुँह उठा-उठाकर गृहिणी की ओर देखने लगा। गृहिणी ने देखा कि नेवले के मुँह में खून-ही-खून लगा है। उसे लगा कि नेवले ने उसके छोटे बच्चे को काट खाया है। इतना रोष उसमें पैदा हुआ कि उसने जल का पात्र नेवले पर दे मारा और जोरों से दौड़कर वह घर में घुसी। जाकर क्या देखती है कि उसका बच्चा सुरक्षित सोया हुआ है और उसके पास ही एक विषधर के कई टुकड़े पड़े हुए हैं। तब सारी बात गृहिणी की समझ में आ गयी और वह दरवाजे की ओर दौड़ी। नेवले ने उसके बच्चे को साँप से बचा लिया था। पर नेवला तो चकनाचूर होकर मृत पड़ा था।

यह कथा हमारा मार्गदर्शन करती है। मुझे अपने जीवन में इस कहानी से बड़ा लाभ मिला है। जब कुछ तथ्यों के आधार पर मैं कोई निर्णय शीघ्रता में लेने जाता हूँ, तो यह कहानी याद आ जाती है और मैं निर्णय को रोक देता हूँ। कुछ समय बीतने पर जब और कुछ तथ्य मिलते हैं, तब सोच-विचार कर निर्णय लेता हूँ। मैंने पाया है कि जल्दबाजी में लिया गया निर्णय हमेशा अपूर्ण होता है और उससे हानि ही होती है।

जीवन में सफलता का रहस्य हमारे लिये गये निर्णयों में निहित होता है। सफल व्यक्ति के जीवन का अध्ययन करने पर पाएँगे कि वह शीघ्रता में कोई निर्णय नहीं लेता, निर्णय लेने से पहले वह गहराई में पैठता है और पक्ष-विपक्ष दोनों को तौलकर तब निर्णय लेता है। उथला व्यक्ति जीवन में सफलता नहीं पा सकता। जीवन में सफलता किसी बात की गहराई में पैठने की हमारी क्षमता पर निर्भर करती है।

यहाँ एक बात कह दें कि कार्यकुशल व्यक्ति भी अपना कार्य शीघ्र कर लेता है, पर वह हड़बड़ी में काम नहीं करता। काम में कुशल होना और हड़बड़ी में काम करना - ये दोनों अलग अलग बातें हैं। हमें कार्यकुशल होना चाहिए, हड़बड़ी में काम करने वाला नहीं।

❑ ❑ ❑

सत्य एक ही है, अन्तर है नाम और रूप का। एक ही जलाशय के तीन या चार घाट है। पर हिन्दू पानी पीते हैं – उसे 'जल' कहते हैं। दूसरे पर मुलसमान उसी को 'पानी' कहते हैं। और अंग्रेज तीसरे पर उसी को 'वॉटर' करते हैं। तीनों का तात्पर्य एक ही वस्तु से है, भेद केवल नाम का है। इसी प्रकार कुछ लोग सत्य को 'अल्लाह' के नाम से पुकारते हैं, कुछ 'गॉड' कहकर, कुछ लोग 'ब्रह्म' कहकर, कुछ 'काली' कहकर, तो कुछ लोग 'राम', 'ईसा', 'दुर्गा' तथा 'हरि' नाम लेकर पुकारते हैं। — ***श्रीरामकृष्ण***

सारगाछी की स्मृतियाँ (११)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

इसके बाद एक बार मैं जयरामबाटी में जाकर उपस्थित हुआ। मेरे साथ में मोक्षदा बाबू थे, मैंने कहा, माँ मैं तुम्हीं से दीक्षा लूँगा। माँ ने कहा – "बेटा तुम लोगों के तो 'कुलगुरु' हैं। तुमने उनसे तो दीक्षा ली है।" मैंने अत्यन्त व्याकुल होकर कहा, नहीं माँ, तुम्हारे पास नहीं आने से मैं कहाँ जाऊँगा? मैंने यह बात सोचकर नहीं कहा था, अचानक मुख से निकल गया था। माँ ने कहा – "ठीक है, कल दस बजे दीक्षा होगी।"

दूसरे दिन मेरी दीक्षा हुई। कुछ भी नहीं, माँ ने केवल दो बार हाथ में गीनकर दिखा दिया। मेरे कुलगुरु ने जो मंत्र दिया था, उसे ही थोड़ा उलट-पलट दीं। उस समय क्या मैं जानता था कि वे सब कुछ जानती हैं?

सेवक – आपने स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज जी को कैसे देखा है?

महाराज – क्या उनलोगों को समझ सका हूँ? मैं वहाँ जाकर चुप-चाप बैठे रहता था। एक बार सिलेट से दो मित्रों को लेकर गया था। तब महाराज बलराम मन्दिर में थे। साधुओं ने कहा – "अभी दर्शन नहीं होगा" बहुत दु:ख हुआ। थोड़ा-सी झलक भी देखने को नहीं मिलेगी? बड़े दुखित मन से रास्ते पर खड़ा होकर ऊपर की ओर देखा, तो एक आश्चर्य घटना हुई – स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज ऊपर से हम लोगों की ओर मुँह करके देख रहे हैं, ठीक हमलोगों की ओर ही उनकी दृष्टि थी। वे लोग तो अन्तर्यामी हैं।

सेवक – आप लोगों ने कितना अच्छा संग किया है!

महाराज – क्यों, तुम भी किसमें कम हो? तुम माँ की सन्तान के लड़के हो।

सेवक – इसके अतिरिक्त माँ के लड़के के साथ रहना। उसी बल से तो सब करता हूँ।

महाराज – शरीर को शुद्ध, स्वच्छ एवं ठीक रखना होगा। मन को स्थिर रखना होगा, किसी दिशा में झुकने से नहीं चलेगा और बुद्धि में ठीक धारणा होनी चाहिये कि केवल श्रीरामकृष्णदेव ही मेरे काम्य हैं तथा जगत की अन्य सभी वस्तुयें त्याज्य हैं। ऐसा नहीं होने से दुख होगा।

माँ को तो समझा नहीं था, माँ से कहना चाहिये था कि माँ, मुझे तुम अपनी इच्छा के अनुसार बना लो। वह सब तो कुछ कहा नहीं, मैंने कहा – दीक्षा दो, तुमको पाऊँगा। इसलिये तो इतना दुख पा रहा हूँ। नहीं तो हमलोगों को क्यों दुख होता?

११-०६-१९५९

महाराज – देखो, दो सज्जन आकर मेरे बिस्तर पर बैठ गये। उन लोगों का क्या दोष है? देख रहे हैं कि बाबू की तरह यह सम्पन्न व्यक्ति है। कमरे में सेवक हैं, बहुत से लोग हैं, तोशक, तकिया, सामान आदि है। वह तो बाबू समझेगा ही। यदि तुम बहुत से लोगों के साथ मिलते-जुलते रहो, तो देखोगे कि संध्या के समय अकेले बैठने की इच्छा नहीं होगी।

लोगों की विभिन्न प्रकार की रुचियाँ हैं –

आश्रम में रुचि – कोई किसी एक आश्रम को पसन्द करता है।

वेश (वस्त्र) में रुचि – साधन-भजन नहीं है, केवल गेरुआ कपड़ा पहनने में आनन्द है।

धर्म में रुचि – धर्म की बातें कहते हुए भ्रमण करने में रुचि है।

कर्म में रुचि – एक अच्छे कर्मी, सेवक के रूप में प्रसिद्धी पाने की इच्छा है।

मठ की नियमावली में जिन चार योगों की बातें हैं, किसी-किसी की व्याख्या इस प्रकार है कि संघ का कोई कर्मी होगा, कोई ज्ञानी, कोई योगी एवं कोई भक्त होगा। इसीलिये तो मैं इतना कहता हूँ कि नहीं, चारों एक योग है।

दो गुरु होते हैं – दीक्षागुरु और शिक्षागुरु, हमलोगों के संघगुरु मंत्रदीक्षा देते हैं, शिक्षा देना महन्त लोगों का दायित्व है। चैतन्यदेव ने रघुनाथ को वेश देकर सनातन के पास भेजा था। "करण – कर्म, कारण सीखने के लिये।"

२१.०६.१९५९.

सेवक – इस चित्र में (जिसमें हृदयराम ठाकुर को पकड़े हुए हैं) देखा जाता है कि ठाकुर जी की दाँत नहीं टूटी है। केवल दाँतों की दूरियाँ थोड़ी अधिक हैं।

महाराज – मैंने भी रामलाल जी की बूआ को पूछा था, उन्होंने कहा था कि दाँत तो नहीं टूटी थी। ये सब टूटे-फूटे

दाँत को लेकर रहने से क्या होगा? असली बात है कि वे जो कहना चाहते हैं, उसे जानना और उनके तत्त्व को समझना।

दोपहर में ठाकुर जी के हस्त-लेख की चर्चा होने लगी।

महाराज – महिरावण नाटक ठाकुर जी के हाथों से लिखा गया है। उस लिखावट का अक्षर संस्कृत जैसे है। मैं जब अपने घर में था, तब उन सब लिखावटों को अच्छी तरह से जानता था। एक संन्यासी ने मुझे जगह-जगह पर जो समझ में नहीं आ रहा है, उसे लिखकर देने के लिये कहा था।

४-७-१९५९

महाराज – बहुत दिनों से इच्छा थी कि 'उद्बोधन' पत्रिका में कोई निद्रा के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखे। निद्रा – अर्थात् इस शरीर, मन एवं बुद्धि को भूल जाने से ही शान्ति मिलती है। इस सामान्य जगत में दिन भर हम लोगों को इस शरीर मन एवं बुद्धि के साथ कर्म करते-करते जब और अच्छा नहीं लगता है, तब निद्रा आकर देह, मन और बुद्धि को भूला देती हैं एवं हमलोग परम तृप्ति से निद्रा मग्न हो जाते हैं। अर्थात् मूल उद्देश्य शान्ति प्राप्त करना है और उसका उपाय है, शरीर मन एवं बुद्धि को भूल जाना। आश्चर्य ! हमलोग प्रत्येक दिन इसका स्वयं अनुभव करते हैं, फिर भी कोई भी आन्तरिक शान्ति नहीं चाहता है। उपनिषद् में है – ''अहरह: ब्रह्म गमयति'। अज्ञान से आवृत होने के कारण सुषुप्ति में आनन्द मिलने पर भी बोध नहीं रहता है।

५-७-१९५९

महाराज – देखो ! तुम लोग श्रीरामकृष्ण पोथी पढ़ रहे थे। मुझे बहुत आनन्द हो रहा था। तुम लोगों ने तो आज जटाधारी के बारे में पढ़ा था। हम लोगों के मन्दिर में ईसा मसीह, श्रीकृष्ण, माँ काली, ब्रह्म, साकार और निराकार चाहे जिस किसी का ही भजन क्यों न गाया जाय, हमलोगों को बुरा नहीं लगता है। क्योंकि हम लोग जानते हैं कि प्रत्येक एक-एक गोल छेद है, सभी एक-एक अवतार हैं। उसके पीछे अनन्त सच्चिदानन्द विद्यमान हैं। किन्तु जटाधारी इस बात को नहीं जानता था। वह साधना करते-करते साकार मूर्ति तक गया था। वह असली वस्तु को नहीं जान सका। वह जानता नहीं था कि उसके रामलाला अखण्ड नित्य संगी हैं। इसीलिये तो उसे पूर्ण ज्ञान के लिये ठाकुर के पास आना पड़ा था।

तभी एक भिखारिनी दिखायी दी। उसके वस्त्र फटे हुये थे। महाराज – ओह, यह देखा नहीं जा रहा है कि स्वतंत्र भारत की नारी होकर भी भिक्षा का पात्र लेकर घूमना पड़ रहा है।

६-७-१९५९

महाराज – देखो, शक्ति चार प्रकार की होती है – देह, प्राण, मन और बुद्धि। बुद्धि से विचार करते हैं अर्थात् ज्ञान। मन में भाव आता है अर्थात् भक्ति और जब तक प्राण है, तब तक शरीर से कर्म तो होता ही रहेगा – **न हि कश्चित् क्षणमपि।**

सेवक – कैसी विडम्बना है! कर्म किये बिना रह नहीं सकते, और कर्म करने पर अनेकों समस्याओं में फँस जाना पड़ता है।

महाराज – इसीलिये तो कर्म को उपासना में परिणत करना होगा, नहीं तो कोई उपाय नहीं है। कर्म नहीं करके तो रह नहीं सकोगे। सुनो, ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त संन्यासी को संसार-त्याग करने की क्या जरूरत है! दया, परोपकार, जगत् उद्धार एवं ईश्वर-भाव से सेवा, ये सब तो घर में रहकर भी किया जा सकता था।

सेवक – हाँ, यहाँ तक कि लड़के में ईश्वर-बुद्धि घर में रहकर भी किया जा सकता है।

महाराज – हाँ, सही बात है। कैसे ब्रह्मविद्या प्राप्त किया जाय, यही संन्यासी का एकमात्र उद्देश्य है। किन्तु एक बात है कि घर में रहने से आत्मीय परिजनों की सेवा और परोपकार करना ही होगा और उसमें आसक्ति हो जाने की बहुत सम्भावना है। इसके अलावा अनेकों सामाजिक कर्तव्य एवं सम्बन्ध हैं। किन्तु यहाँ एक व्यक्ति की सेवा कर रहे हो। तुम जानते हो कि वह तुम्हारा कोई नहीं है और तुम भी उसके कोई नहीं हो। कार्य होने के बाद ही दोनों अलग-अलग हो जाते हैं, किसी के प्रति कोई आसक्ति नहीं रहती।

११-७-१९५९

महाराज – बहुत से लोग नहीं जानते हैं कि चारों योग एक ही हैं।

सेवक – हाँ, तीन योग एक हैं। कर्मयोग सभी योगों में है। वह तो अलग योग नहीं है।

महाराज – ठीक कहते हो, देखो, शास्त्र का अध्ययन कर के यह सब जान पाओगे। किन्तु किसी अनुभूति-सम्पन्न व्यक्ति से सुनने से अधिक अच्छी तरह से समझ में आता है। यदि मैं कर्म क्षेत्र में रहता, तब तुमको समझा सकता था कि कैसे कर्म के बीच में भी शान्त रहना चाहिये। ❖ **(क्रमशः)** ❖

कर्म की अद्भुत गति

स्वामी जपानन्द

(गतांक से आगे – उत्तरार्ध)

खोजते-खोजते एक विहार में उनका दर्शन पाकर सेठजी ने स्वयं को धन्य और कृतार्थ माना। उनका हृदय कृतज्ञता से इतना परिपूर्ण था कि थोड़ी देर तो उनके मुख से कोई वाक्य ही नहीं निकला। इसके बाद उन्होंने श्रमण नारद को धीरे-धीरे सारी घटना कह सुनायी और आभार प्रकट किया।

महात्मा ने उन्हें अभय देते हुए कहा, "सेठजी, कर्म की गहन गति को आपने देख लिया न!"

पाण्डु – महाराज, मैं तो कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ।

श्रमण – हाँ, साधारण बुद्धि के द्वारा इसे समझ पाना कठिन है, परन्तु आपको यथासमय इस गूढ़ तत्त्व का रहस्य ज्ञात हो जायगा, क्योंकि अब तक आपने कर्मगति के विषय में न तो जानने का कोई प्रयास किया और न ही इस विषय में किसी से चर्चा ही की। रुचि होने पर किसी भी विषय का धीरे-धीरे ज्ञान हो जाता है। जो भी हो, इतनी बात याद रखियेगा – दूसरों को कोई कष्ट या पीड़ा देने के पूर्व एक बार सोचकर देखियेगा कि यदि आपको भी कोई वैसा ही कष्ट प्रदान करे, तो आपको कैसा लगेगा! क्या सहन हो सकेगा? यदि आप वैसा कष्ट नहीं सह सकते, यदि आप नहीं चाहते कि वैसा ही कष्ट या पीड़ा कोई आपको दे, तो आपके लिये भी दूसरों के प्रति वैसा आचरण करना उचित नहीं। ठीक है न! अत: हृदय में किसी को किसी तरह का दु:ख देने की प्रवृत्ति का उदय होते ही, उसका दमन कर डालियेगा। ऐसे किसी भी अनिष्टकर विचार को हृदय में स्थान न देना ही बुद्धिमत्ता है। जैसे व्यवहार को आप स्वयं पसन्द नहीं करते, वैसा दूसरों से मत कीजियेगा। जैसा व्यवहार करने से आप स्वयं प्रसन्न होते हैं, ठीक वैसा ही व्यवहार आपको दूसरों के प्रति करना चाहिये। अवसर या सुयोग पाते ही आप दूसरों का उपकार करें। उपकारी की मनोवृत्ति रखना उत्तम है। कभी किसी का अपकार मत कीजियेगा। क्योंकि पुण्य तथा पाप का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है। सत्कर्मों से सुख तथा कल्याण होता है और दुष्कर्मों से दु:ख और हानि होती है। इसलिये सत्कर्म के बीज बोना ही अच्छा है और इसी में बुद्धिमत्ता है। यथासमय उसी से शुभ फलों की प्राप्ति होगी।

पाण्डु – महाराज, आपकी वचन-सुधा का पान करके मुझे आनन्द का अनुभव तो हुआ, परन्तु अब भी तृप्ति नहीं हुई। कृपा करके कुछ और भी उपदेश दीजिये। बताइये कि मैं कैसे भला और चरित्रवान बन सकता हूँ। कर्म की गहन गति को थोड़ा और स्पष्ट रूप से बताइये।

श्रमण – ठीक है, तो सुनिये। आपकी आँखों में माया का एक पर्दा लगा है, जो वास्तविक तत्त्व को उलटा दिखाकर सच्चे ज्ञान में बाधा डाल रहा है। अधिकांश लोगों की आँखों में इसी तरह का एक पर्दा पड़ा रहता है, जिसके कारण वे वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप देख और समझ नहीं पाते। यही देखिये न, तत्त्वत: आपमें और मुझमें कोई भेद नहीं है, पर ज्ञान-नेत्रों के उसी माया द्वारा आवृत्त होने के कारण हम दोनों एक दूसरे को अत्यन्त भिन्न बोध कर रहे हैं। यह भिन्नता का अनुभव ही सारे अनिष्टों का मूल तथा सभी पापों का कारण है। सभी मनुष्य एक अविच्छेद्य सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं; बाहर से सैकड़ों भेद दिखने पर भी मूलत: या तत्त्वत: वे एक और अभिन्न हैं – सारी समस्याएँ यह बात न समझ पाने के कारण ही पैदा होती हैं। एक बार इस तत्त्व का बोध हो जाने पर सारे संघर्षों तथा सभी क्लेशों का नाश हो जायगा। तब कोई किसी की हानि नहीं करेगा, कोई किसी को दु:ख नहीं देगा। क्योंकि वैसी प्रवृत्ति का पूर्णत: अभाव हो जायगा। यही सत्य है और इस सत्य का बोध न होने तक मानव का कल्याण नहीं हो सकता। जिस प्रकार आसानी से इस सत्य की अनुभूति हो सके, उसे मैं संक्षेप में कहता हूँ; सुनिये और इसे अपने हृदय में धारण कर लीजिये, आपका कल्याण होगा –

(१) जो दूसरों को दु:ख देता है, वह अपने हाथों अपने लिये दु:खों के बीज बोता है।

(२) जो दूसरों को सुख देता है, वह अपने हाथों अपने सुखों के बीज बोता है।

(३) मानव-मानव के बीच मूलत: कोई भेद नहीं है। सभी लोग अपने-अपने भले-बुरे कर्मों के अधीन हैं और तत्त्वत: एक तथा अभिन्न हैं। इन बाह्य भेदों में छिपी एकता के सूत्र को पकड़ लेने से ही सच्चा ज्ञान एवं सच्ची दृष्टि प्राप्त होती है और उसी से सम्यक् प्रयास भी सम्भव हो पाता है।

इन तीन आसान सूत्रों को याद रखियेगा और मन-ही-मन उन पर विचार कीजियेगा। इससे उनमें निहित परम गूढ़ सत्य अपने आप ही प्रकट हो जायगा। मैंने आपको अत्यन्त सहज तथा सीधा मार्ग दिखा दिया है। दृढ़ संकल्प के साथ इसी पथ पर आगे बढ़िये, आपका महान् कल्याण होगा।

पाण्डु – महाराज, आपका प्रत्येक वाक्य मेरे हृदय में गहराई तक अंकित हो गया है। मैं इन्हें कदापि नहीं भूलूँगा। आपका अपना जीवन ही तो इन सूत्रों का प्रत्यक्ष उदाहरण है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आपके जैसे सत्पुरुष के सम्पर्क में आने से ही हम सभी का कल्याण हुआ। यह बात खूब सत्य है कि महापुरुष का क्षण मात्र का संग भी महान् कल्याण

का कारण होता है। भगवन्, मैं आपकी कुछ सेवा करना चाहता हूँ, कृपया अनुमति दें, तो कृतार्थ हो जाऊँ। कौशाम्बी में एक विहार (मठ) का निर्माण करने की मेरी इच्छा है। यदि आप कृपा करके वहाँ रहें, तो बहुत-से लोगों का उपकार होगा। आपके सम्पर्क में आने से लोगों को सच्चे धर्म का प्रकाश मिलेगा और वे सन्मार्ग पर चलना सीखेंगे।

कौशाम्बी में पाण्डु सेठ ने विहार का निर्माण कराया। सैकड़ों विद्वान् तथा धर्मज्ञ श्रमण वहाँ निवास करने लगे। थोड़े दिनों में ही देश-विदेश में इस विहार की प्रसिद्धि फैल गयी। दूर-दूर से लोग अपनी धर्मपिपासा मिटाने हेतु वहाँ आने लगे। अब देश-देश में जौहरी पाण्डु सेठ का नाम फैल गया और घर-घर में उनकी बड़ाई होने लगी। श्रमण नारद ने इस विहार के प्रमुख का पद स्वीकार कर लिया था।

कौशाम्बी के पास ही एक सामन्त राज्य की एक प्रधान नगरी थी। राजा के मन में एक ऐसा मुकुट बनवाने की इच्छा हुई, जिसे दुनिया के लोग देखते ही रह जायँ। राजा को मालूम था कि पाण्डू जौहरी एक धार्मिक व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कौशाम्बी से उन्हें बुलवाकर समुचित निर्देश के साथ वह कार्य उन्हें सौंप दिया। पाण्डु ने खूब परिश्रम के साथ यथासमय उनके निर्देशानुसार मुकुट तैयार कराया। इस सौदे में काफी लाभ कमाने की आशा में वे अनेक बहुमूल्य रत्न-माणिक्यों से जड़ित स्वर्णाभूषणों आदि के साथ उक्त सामन्त राजा की राजधानी की यात्रा की। १५-२० बलवान लोग भी उनके रक्षक के रूप में साथ जा रहे थे। उनके मन में काफी धन तथा प्रसिद्धि पाने की उम्मीद बनी हुई थी। उनका मन कल्पना-राज्य में स्वच्छन्द विचरण कर रहा था और रक्षकों से घिरी हुई उनकी गाड़ी भी निश्चिन्त भाव से चली जा रही थी। मार्ग में एक भयंकर घना जंगल पार करना पड़ता था। गाड़ी जब उस जंगल के भीतर से होकर गुजर रही थी, तभी एक दुर्दम्य डकैतों के दल ने उन पर आक्रमण करके उनका सर्वस्व लूट लिया। अधिकांश रक्षक या तो मारे गये अथवा घायल हो गये। पाण्डु सेठ का पुराना नौकर महादत्त ही इन डाकुओं का सरदार था। सेठ को उसने जान-बूझकर ही यह सोचकर नहीं मारा कि सर्वस्व लुट जाना ही पर्याप्त दण्ड होगा। पाण्डु सेठ की सारी आशाएँ धूल में मिल गयीं, सारी कल्पनाएँ क्षण भर में लुप्त हो गयीं। करोड़ों का स्वामी क्षण भर में ही कंगाल – साधारण व्यक्ति हो गया। यह भयानक मानसिक आघात पाकर सेठ के दु:ख की सीमा न रही। उनके मन में आया कि आज की यह अवस्था उनके किसी पुराने दुष्कर्म का ही फल है। उन्होंने अपनी युवावस्था में काफी अनुचित कर्म किये थे, अनेक लोगों को ठगा था और अनेक लोगों को धोखा देकर धन इकट्ठा किया था। उन दिनों धन के मद में मतवाले होकर उन्होंने बहुत-से अधर्मपूर्ण कार्य करने में भी कोई संकोच नहीं किया था। क्या महादत्त के प्रति भी उन्होंने अनुचित और क्रूर आचरण नहीं किया था? उन्होंने जैसा बीज बोया था, वैसा ही फल मिला – आदि-आदि विचार करते-करते उनकी माया का पर्दा सहसा हट गया और उन्हें कर्म की गहन गति का स्पष्ट दर्शन होने लगा। वे अपने पहले के किये हुए समस्त अनुचित कर्मों के लिये हृदय से पश्चाताप करने लगे। अनुताप की इस अग्नि ने उनके हृदय को पवित्र कर दिया। इस दुर्भाग्य के लिये उनके मन में किसी के प्रति द्वेष या दुर्भाव का उदय नहीं हुआ, वे किसी पर नाराज नहीं हुए और यह सोचकर उन्होंने स्वयं को ही दोषी ठहराया कि यह दुर्भाग्य मेरे अपने ही कर्मों के फलस्वरूप हुआ है। इसमें किसी अन्य का कोई दोष नहीं है। धन लुट जाने का उन्हें प्रारम्भ में जो भयानक कष्ट हुआ था, वह बिलकुल ही चला गया और उनके हृदय में कोई भी क्षोभ नहीं रहा। उनके चित्त में प्रशान्ति का आविर्भाव हुआ। बीच-बीच में उन्हें केवल इसी एक बात के लिये खेद का बोध हो रहा था कि वे अब कौशाम्बी के विहार के लिये कुछ भी नहीं कर सकेंगे।

– ४ –

पूर्व कथित घने जंगल के मार्ग से होकर एक श्रमण चले जा रहे थे। उनके पास केवल एक कमण्डलु और मूल्यवान वस्त्र में लिपटा हुआ एक धर्मग्रन्थ मात्र था। कुछ दिनों पूर्व ही इस जंगल के डाकुओं ने पाण्डु सेठ का सर्वस्व लूट लिया था। यह मूल्यवान वस्त्र का टुकड़ा ही संन्यासी की विपत्ति का कारण सिद्ध हुआ। डाकुओं ने सोचा कि वे इस वस्त्र में लपेटकर कोई बहुमूल्य वस्तु ले जा रहे हैं। साधु पर आघात करके उसे छीनने के बाद जब उन लोगों ने उस वस्त्र को खोलकर देखा, तो उसमें एक ग्रन्थ मात्र था, तो वे लोग उसे फेंककर चले गये।

साधु को काफी चोट लगी थी। वे चलने-फिरने में असमर्थ होकर वहीं पड़े रहे। अगले दिन थोड़ा ठीक महसूस करने पर और दूसरा कोई चारा न देख बड़े कष्टपूर्वक अपने गन्तव्य की ओर चल पड़े। सहसा उन्होंने निकट के जंगल से अस्त्रों की झनझनाहट और 'मारो, मारो' की आवाज सुनाई दी। वे शंकित हृदय के साथ वहीं खड़े होकर चारों ओर देखने लगे कि बात क्या है! उन्होंने देखा कि जिन डकैतों ने कल उनके ऊपर आघात किया था, वे ही आपस में लड़ रहे हैं। भीमकाय यमदूत जैसे लोग आपस में लड़ते हुए तलवारों की तीक्ष्ण धार से एक-दूसरे के अंगों को काट रहे हैं। यह मानो क्रूर कुत्तों का निर्मम, निर्दय युद्ध चल रहा था। भीषण हत्याकाण्ड करने के बाद जब डकैतों का सरदार धराशायी हो गया, तो थोड़ा-बहुत चोट खाकर बचे हुए कुछ डाकू वहाँ से भाग निकले। तब उन साधु ने बड़े कष्टपूर्वक वहाँ पहुँचकर

देखा कि अधिकांश डाकू मृत्यु के मुख में पड़े हुए हैं। दो-चार तो मरणासन्न थे और सरदार की हालत गम्भीर थी – किसी भी क्षण उसके प्राण निकल सकते थे।

साधु के हृदय में बड़ी पीड़ा हुई। ये हत्याएँ क्यों हुई? मनुष्य में यह पाशविक प्रवृत्ति क्यों है? लोग क्या एक-दूसरे से प्रेम करते हुए परस्पर मैत्रीभाव नहीं रख सकते? ईमानदारी से धनोपार्जन के हजारों उपाय होने के बावजूद लोग ऐसे गलत उपायों को क्यों अपनाते हैं, जिससे अपना तथा दूसरों का भी अनिष्ट होता है? सच्चे तथा उद्यमी व्यक्ति को कोई कमी नहीं होती। वह अपने तथा अन्य अनेक लोगों का भला करने में समर्थ होता है। उसकी सद् -भावना उसे अधिकाधिक कल्याण के मार्ग पर ले जाती है और क्रमशः वह अविच्छिन्न शान्ति तथा सुख का अधिकारी होता है। अन्ततः वह निर्वाण रूपी परमार्थ की प्राप्ति करके तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। भगवान बुद्ध द्वारा दिखाये गये शान्ति के पथ पर – कल्याण के पथ पर मनुष्य क्यों नहीं चलता?

सरदार उसी हालत में चिल्लाये जा रहा था, ''दुष्ट-बेईमान लोग कहाँ भाग गये? जिनकी मैंने सैकड़ों बार रक्षा की, जिनके लिये मैंने अपना जीवन तक दाँव पर लगा दिया, उन्हीं लोगों ने मेरे साथ बेइमानी की ! मेरे साथ ऐसा व्यवहार करते उन्हें जरा भी संकोच नहीं हुआ ! यदि एक बार मिल जाते, तो उनकी ऐसी-तैसी कर देता !''

श्रमण – भाई अब और क्यों चिल्ला रहे हो? तुमने जो वृक्ष रोपा था, उसी का तो फल भोग रहे हो। अपने किये कर्मों का फल सभी को भोगना पड़ता है। अपने अन्त समय में अब वे सब बातें भूल जाओ और आत्म-विचार करो। सबके प्रति सद्‌भाव का पोषण करो, तुम्हारा कल्याण होगा। लो, थोड़ा-सा पानी पीयो ! देखूँ, तुम्हें कहाँ-कहाँ अधिक चोट लगी है ! देखूँ, तुम्हारे प्राण बचाने के लिये कुछ कर पाना मेरे लिये सम्भव है, या नहीं !

डकैत-सरदार श्रमण के प्रेमपूर्ण पवित्र स्पर्श से काफी कुछ शान्त हुआ और उसके हृदय में क्रमशः शुद्ध भावना का उदय होने लगे। श्रमण ने जंगल से एक तरह की वनस्पतियों को लाकर उसके घावों को धोया और उसके रस का लेप कर दिया। थोड़ी ही देर में सरदार की पीड़ा घट गयी। वह काफी स्वस्थ महसूस करने लगा और सारे दुःखों को हरनेवाले वैराग्य ने उसके चित्त पर अधिकार कर लिया। डाकू के हृदय में परिवर्तन हुआ। अब वह हिंसापरायण पर-सर्वस्व-हरणकारी दस्यु नहीं रह गया। अब तक किये हुए दुष्कर्मों के लिये उसके मन में पश्चाताप होने लगा। श्रमण उनकी बगल में ही बैठे थे। उनकी दृष्टि में अद्‌भुत मधुरता थी, मानो वे कितने अपने आदमी हों ! डकैत उनसे कहने लगा –

''दयामय, अब तक मैं अधर्माचरण ही करता आया हूँ, कभी किसी का कोई उपकार किया हो, ऐसा याद नहीं आता। अब मैं अपनी अनुचित कामनाओं के जाल में फँसकर स्वयं ही कष्ट पा रहा हूँ। इससे उद्धार का मुझे कोई उपाय नहीं दिखाई देता। क्या मेरे उद्धार का कोई उपाय है?''

श्रमण – ''हाँ भाई, है। यह सच है कि तुम्हारे किये हुए कर्मों का फल तुम्हें ही भोगना होगा, उससे बचा नहीं जा सकता, तो भी हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं। अब से ऐसे कर्म करना शुरू करो, जिससे भविष्य में तुम्हारा कल्याण हो सके। सरल हृदय में सद्भाव का पोषण करो, इससे भी कल्याण हो जायगा।''

''जो व्यक्ति भोग्य विषयों की लालसा को जितना ही दूर कर सकेगा, उतनी ही मात्रा में उसके हृदय की मलिनता दूर हो जाती है और उसकी बुद्धि भले विषयों में लगती है। तब व्यक्ति क्रमशः समझने लगता है कि दूसरों के हित में ही अपने भी कल्याण का बीज निहित है – दूसरों के भले से ही अपना भी भला होता है। तुम्हारे अपने हित के साथ दूसरों के हित भी जुड़े हुए हैं; तुम्हारे कर्म-प्रवृत्तियों में तुम्हारे अपने तथा दूसरों के भी कल्याण-अकल्याण निहित है – इस सत्य को जान लो और इसे हृदय में धारण करो। भगवान तथागत से प्रार्थना करो, 'हे प्रभो, दया कीजिये। मैं अब से कोई पाप नहीं करूँगा, सत्य तथा भले मार्ग पर चलूँगा। मेरा उद्धार कीजिये। हे दयालु भगवन्, मेरा उद्धार कीजिये।'

''तब तुम्हारी सद्भावना ही तुम्हें शान्ति प्रदान करेगी, वैसे दुःख का समूल नाश तो अभी नहीं कर सकोगे। क्योंकि कपट, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, मान, अहंकार, हिंसा, देहप्रीति आदि जब तक नहीं चले जाते, तब तक दुःख का पूर्णतः नाश नहीं होता। वह तो काफी दूर की बात है, तथापि मैं आशा करता हूँ, तुम अब समझ सके हो कि दुष्कर्म दुःख का मार्ग है – वह मृत्यु की ओर ले जाता है; और सत्कर्म सुख का मार्ग है – अमृतत्व की ओर ले जाता है। छोटे-मोटे सत्कर्मों में भी मनुष्य को अनन्त दुःखों से मुक्त करने की शक्ति रहती है। वह मानो अन्न का बीज है, जो क्रमशः बढ़ता हुआ असंख्य गुना हो जाता है। सत्कर्म का ऐसा प्रभाव है कि वह व्यक्ति को क्रमशः बुद्धत्व की ओर ले जाता है और यथासमय निर्वाण के पद पर आरूढ़ होने में सहायता करता है। वह मकड़ी के लार-तन्तु के समान सूक्ष्म होकर भी अपार कल्याण करने में समर्थ है – वह नरक से भी उद्धार करने में सहायक होता है। परन्तु स्वार्थ-बुद्धि या अहंकार होने से वह तन्तु टूट जाता है। हमारे मन में निहित जो अहंकार है, जो स्वार्थ-बुद्धि है, वही नरक का कारण है। इनका त्याग कर पाने से ही महान् कल्याण की प्राप्ति होती है।

''इसी बात को दर्शाने वाला एक उपाख्यान है – कदन्त नामक एक डाकू ने अपनी मृत्युकाल तक अनेकानेक पाप

किये थे और उसे इस बात का जरा भी पश्चात्ताप नहीं था। इसके फलस्वरूप मृत्यु के बाद उसे एक कष्टकर नारकी योनि में जन्म लेकर अपने किये हुए पाप-कर्मों का फलभोग करना पड़ा। जब भगवान बुद्धदेव ने अवतार लेकर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, तब उनके पुण्य-ज्योति की एक किरण से नरक भी उद्भासित हो उठा था। नरकवासी भी उनकी अपार करुणा के अंश से वंचित नहीं रहे। उनके मनों में भी उद्धार की आशा संचरित हुई। कदन्त आशान्वित होकर चीत्कार करते हुए यह कहकर प्रार्थना करने लगा, 'हे भगवान् तथागत, दया कीजिये, मुझे भी अपनी कृपा का कण प्रदान कीजिये; इस घोर नारकी जीवन से मेरा उद्धार कीजिये। हे दयालु भगवन्, मेरा उद्धार कीजिये।' कदन्त का रुदन सुनकर भगवान बुद्ध बोले, 'हे कदन्त, क्या तुमने कभी कोई सत्कर्म किया था? यदि किया रहा हो, तो वह तत्काल तुम्हारा उद्धार कर देगा। तुम्हारे सत्कर्म ही तुम्हारे इन दु:खों में शान्ति प्रदान करेंगे, परन्तु दु:खों का समूल नाश नहीं होगा; क्योंकि जब तक मन से कपट, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, मान, अहम्, हिंसा, देहप्रीति आदि नहीं चले जाते; तब तक दु:ख का पूर्णत: नाश नहीं होता।'

''कदन्त का स्वभाव अत्यन्त क्रूर था और वह ऐसा पापिष्ठ था कि उसने कभी किसी का भी उपकार नहीं किया था। बहुत सोच-विचार करने पर भी उसे अपना किया हुआ कोई ऐसा सत्कर्म याद नहीं आया, जब उसने किसी पर भी जरा-सी भी दया या अनुकम्पा दिखायी हो। सर्वज्ञ भगवान बुद्ध के समक्ष उसके समग्र जीवन का चित्र प्रकट होने पर उन्होंने देखा कि एक दिन उसने एक मकड़ी के प्रति दया दिखायी थी। वह मकड़ी रास्ते से होकर जा रही थी। उस समय कदन्त के मन में इच्छा हुई थी कि उसे पाँव से दबाकर मार डालें, परन्तु सहसा उसके मन में उस निर्दोष प्राणी को न मारने का संकल्प उठने पर उसने उसे छोड़ दिया था। यही उसके लिये एकमात्र आशा थी। भगवान बुद्ध ने उसी मकड़ी को कहा कि वह अपने जाल का एक धागा कदन्त के उद्धार के लिये नरक में लटका दे। मकड़ी ने एक धागा लटकाकर कहा, 'कदन्त, इस तन्तु का सहारा लेकर अपना उद्धार करो। कदन्त के मन में क्षीण आशा का उदय हुआ। वह उसे पकड़कर धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगा। थोड़ी देर बाद उसने देखा कि वह पतला धागा टूटने ही वाला है। नीचे की ओर देखने पर उसे पता चला कि असंख्य नारकी जीव उसी तन्तु की सहायता से ऊपर चढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। क्षण भर में ही कदन्त का पुराना स्वार्थपूर्ण स्वभाव प्रबल हो उठा। वह यह सोचकर घबड़ा गया कि वे लोग उसकी आशा को धूल में मिलाये दे रहे हैं। वह क्रोधपूर्वक बोला, 'यह मेरा धागा है, तुम लोग इसे छोड़ दो।' बस, इतना कहते ही वह धागा टूट गया और इस प्रकार कदन्त फिर नरक में जा गिरा।''

श्रमण नारद की बात सुनकर वह मरणासन्न दस्यु-सरदार बोला, ''महाराज, मुझे आशा है कि मैं भी उसी प्रकार मकड़ी के एक तन्तु की सहायता लेकर नरक से अपना उद्धार कर सकूँगा।'' उसके चेहरे पर सुविचारित दृढ़ता की रेखाएँ दीख पड़ी। क्षण भर चुप रहने के बाद वह पुन: बोला, ''महाराज, मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, कृपया सुन लीजिये। मेरा नाम महादत्त है। डकैती का यह पेशा अपनाने के पूर्व मैं कौशाम्बी के प्रसिद्ध जौहरी पाण्डु सेठ के यहाँ नौकरी करता था। एक बार उन्होंने मुझ निर्दोष पर सन्देह करके मेरे प्रति अत्यन्त क्रूर व्यवहार किया। इसीलिये मैंने उनकी नौकरी छोड़ दी और डाकुओं के इस दल में मिलकर मैंने भी डकैती का पेशा अपना लिया। क्रमश: मैं इनका सरदार बन गया। जब मुझे सूचना मिली कि पाण्डु सेठ बहुत-सा धन-रत्न आदि लेकर इसी जंगल के मार्ग से जा रहे हैं, तो मेरे हृदय में प्रतिहिंसा की अग्नि धधक उठी और मैंने अपने दल-बल के साथ उनपर आक्रमण करके उनका सर्वस्व लूट लिया। अब आपके उपदेश सुनकर मुझे थोड़ा-थोड़ा समझ में आ रहा है कि इस अनर्थ की जड़ कहाँ है। मैं उनकी धन-सम्पदा उन्हें लौटा देना चाहता हूँ। आप कृपया उनसे कहियेगा कि वे मुझे क्षमा करें और उन्हें बताइयेगा कि अपने प्रति दुर्व्यवहार के लिये मैंने उन्हें हृदय से क्षमा कर दिया है। उन धन के मद में उन्मत्त पाण्डु के यहाँ नौकरी करते समय ही, उनके प्रभाव से मेरे हृदय के सारे कोमल भाव प्राय: नष्ट हो गये थे, जिसके फलस्वरूप मेरे मन में इस क्रूर दस्युकर्म को अपनाने की प्रवृत्ति आयी। अब आपके पवित्र सान्निध्य के गुण से मेरे हृदय से पुराने कठोर भाव दूर होकर उसमें कोमल भावों का उदय हो रहा है। उन दिनों पाण्डु स्वार्थ को ही सर्वोच्च महत्त्व दिया करते थे और मैंने भी वही सीखा था। परन्तु मैंने सुना है कि अब उनके उन पुराने भावों में आमूल बदलाव आया है और अब लोग उन्हें न्यायपरायण धार्मिक दाता के रूप में सम्मानित किया करते हैं। आपकी कृपा से, इस अल्प अवधि में ही मेरे हृदय का आमूल परिवर्तन हुआ है। अब में दस्यु-सरदार महादत्त नहीं रहा। अब तक मैंने अनेक दुष्कर्म किये हैं, मुझे अन्धकार ही अच्छा लगता रहा, परन्तु अब ऐसा नहीं होगा – अब से मैं अन्धकार में नहीं रहना चाहता – अब मुझे प्रकाश, प्रकाश और केवल प्रकाश ही चाहिये। मेरी मृत्यु अति निकट आ चुकी है। कुछ क्षणों में ही मेरा जीवन-दीप बुझ जायगा। मेरे हृदय की सारी मलिन वासनाएँ दूर हो चुकी हैं। अब शत्रु-मित्र – सभी के लिये मेरे मन में केवल सद्भाव ही रह गया है। हे दयालु महात्मा, पाण्डु सेठ को सूचित कर दीजियेगा कि मैंने उनसे जो धन-सम्पदा लूटी थी, वह सब उस निकट स्थित पर्वत की गुफा में गड़ा हुआ है। वे

यथाशीघ्र आकर उसे ले जायँ। जो दो-एक साथी उस जगह के बारे में जानते थे, वे सब मर चुके हैं, इसीलिये अब तक उस धन को कोई क्षति नहीं पहुँची है। आशा करता हूँ कि अपने जीवन के अन्तिम क्षण में मेरे मन में उपकार करने की यह जो प्रवृत्ति आयी है, वह आपकी कृपा से सफल होगी।''

इतना कहकर श्रमण की गोद में लेटे हुए महादत्त ने उसी दशा में देहत्याग कर दिया।

– ६ –

परिव्राजक श्रमण ने तत्काल कौशाम्बी लौटकर पाण्डु सेठ को यह सूचना दी। पाण्डु अनेक लोगों को साथ लेकर गये और उस गुफा को खोदकर सारी सम्पत्ति वापस ले आये। इसके बाद उन्होंने महादत्त तथा अन्य डकैतों के मृतदेहों का अन्तिम संस्कार किया। इसके बाद वे कौशाम्बी लौट आये और उस सारी सम्पत्ति का सत्कार्यों में व्यय कर दिया। डाकुओं के संस्कार के समय उन परिव्राजक श्रमण ने पाण्डु को जो उपदेश दिये थे, वे इस प्रकार हैं –

''हम लोग स्वयं ही दुष्कर्म करते हैं और हमीं को यथासमय उनके फल भोगने पड़ते हैं। अत: हमें अपने चित्त से प्रयास के द्वारा बुरी प्रवृत्तियों को दूर करके शुद्ध विचारों के द्वारा भली प्रवृत्तियों को लाना चाहिये। पवित्रता या अपवित्रता – दोनों ही हमारे द्वारा स्वेच्छापूर्वक ही अपनाये गये हैं, दूसरा कोई भी हमें पवित्र या अपवित्र करने में समर्थ नहीं है। भगवान बुद्ध ने कहा है कि मनुष्य अपने ही प्रयासों से पुण्य या पाप का अधिकारी होकर पवित्र या अपवित्र होता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव या किसी भी अन्य देवता ने हमारे कर्मों का सृजन नहीं किया है। हमने स्वयं ही अपने कर्मजाल की सृष्टि की है और इसके लिये हम स्वयं ही उत्तरदायी हैं। जरायु से ढके हुए गर्भस्थ जीवदेह के समान ही हमारे किये हुए कर्मों ने हमें घेर रखा है और हमें सुख-दुख के अधीन कर रखा है। सत्कर्मों के बीज अच्छे फल उत्पन्न करके जीवन में वरदान सिद्ध हो रहे हैं और दुष्कर्मों के बीज बुरे फलों को पैदा करके अभिशाप सिद्ध हो रहे हैं। अत: यह जान लो कि निर्वाण या मुक्ति का बीज इन कर्मों में ही छिपा हुआ है। इसीलिये मनुष्य को चाहिये कि वह विचारपूर्वक धर्म का आचरण करे, क्योंकि धर्माचरण करनेवाला व्यक्ति ही इस लोक तथा परलोक में सुखी हो सकता है। इसके लिये अभी से अपनी वाणी को संयमित रखो, मन को अच्छे संस्कारों से भर लो और शरीर के द्वारा कोई भी दुष्कर्म मत करो। ज्ञानियों ने कर्म का मार्ग दिखा दिया है; और पवित्रता के द्वारा ही उस पथ पर चला जा सकता है। आओ, हम भी भगवान बुद्ध के साथ स्वर मिलाकर कहें, 'गहकारक दिट्ठोस पुन गेहं न काहसि।' मैं देख रहा हूँ कि इस घर का निर्माता कौन है। अब यह देह नहीं होगा, (क्योंकि) चित्त की कामनाएँ मिट चुकी हैं, घर की नींव चकनाचूर हो चुकी है। निर्वाण का मार्ग खुल गया है। मैं तुमसे और यहाँ जो लोग उपस्थित हैं, उन सभी से कहता हूँ – मलिन कामनाओं को समूल उखाड़कर भगवान बुद्ध द्वारा प्रदर्शित धर्ममार्ग पर चलते हुए अपने-अपने कल्याण को प्राप्त कर लो।''

* * *

पाण्डु सेठ वृद्ध हो गये हैं। उनके जीवन-दीप का तेल क्रमश: घटता जा रहा है। किसी भी क्षण वह बुझ सकता है। पाण्डु ने यह बात समझकर दीप बुझने के पहले ही अपने पुत्रों को अपने पास बुलवाकर सदुपदेश देते हुए कहा, ''हे मेरे प्रिय पुत्रो, मुझे शीघ्र ही इहलोक से विदा लेना होगा, अत: उसके पूर्व तुम्हें कुछ ऐसी बातें बताता हूँ, जो तुम्हारे लिये विशेष उपयोगी हो सकती हैं, सावधान चित्त के साथ सुनो –

''किसी भी सत्कर्म में लगने के बाद हताश मत होना और उस कर्म का परित्याग मत करना। किसी भी कर्म में सफलता न मिले, तो दूसरों के सिर पर उसका दोष मढ़ने के पूर्व विशेष रूप से विचार कर लेना। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा करने पर तुम प्राय: ही देखोगे कि वह तुम्हारे ही किसी दोष या भूल के कारण सम्पन्न नहीं हो सका। मन में यह बात रखकर ही सारे उद्यम करना कि सफलता या विफलता के लिये व्यक्ति स्वयं ही सर्वाधिक उत्तरदायी है।

''व्यक्ति अपने कर्मों के दोष से दुखी होता है और अपने ही कर्मों के गुण से सुखी होता है। अहंकार-अभिमान का त्याग, नि:स्वार्थता, चारित्रिक दृढ़ता, संयम, धर्मप्राणता आदि को ही सुखी होने का उपाय समझना। निरहंकारी, अभिमानरहित, स्वार्थत्यागी, संयमी व्यक्ति को ही कर्म की गूढ़-गहन गति का ज्ञान होता है और उसके समक्ष धर्मयुक्त सरल सत्यपथ सतत स्पष्ट रूप से प्रकट होता रहता है।

''मैं तुम लोगों को आशीर्वाद देता हूँ कि माया-ममता का परदा तुम लोगों की दृष्टि को आच्छन्न न कर सके; और ये दो उपदेश तुम लोग विशेष रूप से मत भूलना –

(१) जो दूसरों को दु:ख देता है, वह वस्तुत: स्वयं को ही पीड़ा देता है और जो दूसरों का हित करता है, वह वस्तुत: अपना ही कल्याण करता है।

(२) सांसारिक विषयों से स्वार्थपूर्ण ममता एवं देह के प्रति अत्यधिक आसक्ति के दूर हो जाने और अहंकार-अभिमान आदि का त्याग हो जाने पर सत्य-धर्म का बोध जन्मता है।

मेरा अन्तिम आशीर्वाद यह है कि भगवान बुद्ध की अपार करुणा से, तुम लोगों की बुद्धि दृढ़तापूर्वक भले कर्मों में लगे और तुम लोग अपने जीवन काल में ही निर्वाण-पद के अमृत -स्वरूप का अनुभव करके धन्य तथा कृतार्थ हो जाओ।

❑ ❑ ❑
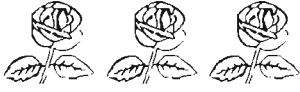
मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२५०. भोग-विषय सब रोग समाना

सन्त बनादास ने सिपाही के रूप में तीस साल ईमानदारी से नौकरी की। एक दिन उनके बारह वर्षीय पुत्र के आकस्मिक निधन का उन्हें इतना गहरा सदमा पहुँचा कि घर-गृहस्थी के प्रति उन्हें विरक्ति हो गई और वे अयोध्या चले गए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने १२ वर्ष तक कठोर तपस्या की और बाद में संन्यासी बन गए। उनकी कीर्ति दूर-दूर तक जा पहुँची। एक दिन अयोध्या-नरेश ने जब सन्त की निःस्पृहता, निरहंकारिता और निर्मल जीवन के बारे में सुना, तो वे उनकी कुटिया में जा पहुँचे। वहाँ सन्त को निद्रामग्न देखकर वे वापस लौट गये। रात को भगवान ने राजा को स्वप्न में दर्शन देकर कुटिया से वापस लौटने के लिए उसकी भर्त्सना की।

सुबह उठने पर उसे स्वप्न का ख्याल आया और वह पुनः सन्त बनादास के पास जा पहुँचे। प्रणाम करने के बाद उन्होंने अपने पिछली रात आने की बात बताई। सुनकर सन्त को दुख हुआ और उन्होंने राजा से क्षमा माँगी। राजा ने साथ में लाई हुई रुपयों की थैली उन्हें भेंट की। सन्त ने एक क्षण थैली की ओर देखा और उनके मुँह से ये शब्द निकल पड़े –

जानहु जर-जोरु-जमीन
जहर सम, बनादास तजि दीन।।

उन्होंने थैली वापस ले जाने को कहा। राजा ने कहा, ''मैंने यह सुना था कि आप लोगों के हितार्थ सत्कर्म करते हैं, इसलिए मैंने ये रुपये भेंट किये हैं। आप उनके कल्याण के लिये इन्हें खर्च करें।'' जब वे जाने लगे तो सन्त ने कहा –

हम तो हैं रघुवीर सिपाही,
निसिदिन राम नाम रटिबे को।
सिर दिया सरकार को,
और हुकुम हमरे सिर नाहीं।।

राजा ने जब थैली वापस नहीं ली और वापस चला गया, तो उन्होंने उन रुपयों से एक मन्दिर बनवा दिया।

२५१. दर्पण क्या क्या सिखलाता है

सुकरात के शिष्य यह देखकर हैरान थे कि उनके गुरु जब-तब दर्पण में अपना चेहरा निहारते रहते हैं। वे खूबसूरत तो हैं नहीं, फिर अपनी भौंडी शक्ल का उन्हें इतना मोह क्यों है? एक दिन जब सुकरात एकान्त में दर्पण में अपना चेहरा देख रहे थे, तो सारे शिष्य वहाँ आकर एकत्र हो गए और जोर-जोर से हँसने लगे।

सहसा सबको एकत्र देखकर सुकरात ने उन लोगों से कहा, ''आप लोग क्यों हँस रहे हैं, इसका कारण मैं जानता हूँ। यह सत्य है कि मनुष्य का चेहरा कैसा भी हो, स्वयं उसे तो सुन्दर ही लगता है। मगर यह उसकी गलतफहमी होती है। यदि वह सावधानी से देखे, तो उसे वही चेहरा मलिन दिखाई देगा। सच मानो, मुझे अपने चेहरे का जरा भी मोह नहीं है। मैं आज ही नहीं प्रतिदिन दर्पण में यह देखने की कोशिश करता हूँ कि मेरे व्यवहार में कल की तुलना में आज कोई खोट या दोष तो नहीं आया है।''

सुकरात ने थोड़ा रुककर आगे कहा, ''दर्पण की यह विशेषता है कि उसमें साफ वस्तुओं का ही प्रतिबिम्ब साफ-साफ दिखाई देता है, लेकिन इसके लिये दर्पण का भी साफ होना जरूरी है। यदि उस पर धूल जमी हो, तो वस्तु का प्रतिबिम्ब साफ नहीं दिखाई देगा। वस्तु को स्पष्ट देखने के लिए दर्पण पर लगी धूल को हटाना जरूरी है।''

सुकरात ने कहना जारी रखा, ''बाह्य सौन्दर्य यथार्थ नहीं है, आन्तरिक सौन्दर्य ही सच्चा सौन्दर्य है। सौन्दर्य वस्तुतः अन्तःकरण के भीतर होता है। जिस प्रकार दर्पण पर लगी धूल को हटाने पर ही चेहरा साफ-साफ दिखाई देता है, उसी प्रकार चेतना-रूपी दर्पण में चेहरा देखने के पहले, मन में जो भी मलिन विचार हों, उन्हें हटाना जरूरी होता है। खुद को सुधारने का यही एकमात्र तरीका है।''

❑❑❑

ईश्वर और जीव का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा चुम्बक और लोहे का। तो फिर ईश्वर जीव को आकर्षित क्यों नहीं करते? जैसे अत्यधिक कीचड़ में लिपटा हुआ लोहा चुम्बक के द्वारा आकर्षित नहीं होता, वैसे ही अत्यधिक माया में लिप्त जीव ईश्वर के आकर्षण का अनुभव नहीं करता। पर जैसे पानी से कीचड़ के धुल जाने पर लोहा चुम्बक की ओर खिंचने लगता है, वैसे ही निरन्तर प्रार्थना तथा पश्चात्ताप के आँसुओं द्वारा संसार-बन्धन में फँसानेवाली माया का कीचड़ जब धुल जाता है, तो जीव शीघ्र ही ईश्वर की ओर आकर्षित होने लगता है। – *श्रीरामकृष्ण*
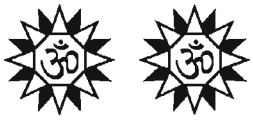
स्वामी प्रेमानन्द के कुछ पत्र
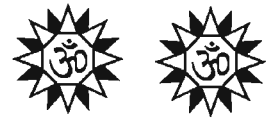
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। वे मठ के मन्दिर में पूजा भी किया करते थे। बँगला भाषा में हुई उनकी धर्म-चर्चाओं को स्वामी ओंकारेश्वरानन्द लिपिबद्ध कर लेते थे और बाद में उन्हें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ उसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

(१)

श्री गुरुपद भरोसा

रामकृष्ण मठ, बेलूड़

स्नेहभाजन नेपाल,

कुछ दिन पूर्व तुम्हारा पत्र मिला। लोग अपना मुख स्वयं नहीं देख पाते या सभी अपने मुख को परम सुन्दर मानते हैं। वैसे ही अपने दोष-गुणों को भी जानना। कई बार लगता है कि मैं निर्दोष हूँ, परन्तु दूसरे लोग मुझे बुरा समझते या कहते हैं। मैं स्वयं बुरा हूँ – यह बात बिल्कुल भी मन में नहीं आने पाती। इसी को समस्त रोगों का मूल समझना। सर्वदा कहना – भाई, मैं तो बुरा हूँ ही, कैसे अच्छा बनूँ – यही बता दो, इसीलिए तुम्हारे पास आया हूँ। सर्वदा सीखने की इच्छा रखना। शिक्षा देने की कामना मत करना; तब देखोगे शान्ति मिलेगी, आनन्द प्राप्त होगा। चन्द्र के आज्ञाकारी होकर चलना। अवज्ञा महादोष है, आते समय कह आया था कि एक-दूसरे को अपना भाई समझना। विनय ही साधु का आभूषण है। विनयी होना। निश्चित रूप से जान लेना कि यदि तुम अपना बनाओ, तो वह कभी तुम्हें पराया नहीं बना सकेगा। एक समय था कि वराहनगर में हम लोग एक-दूसरे का केवल गुण ही देखते थे, कोई किसी का दोष नहीं देख पाता था। तुम लोग भी उसी प्रकार होना। आदर्श खूब ऊँचा होने से सामान्य दोष-गुण ध्यान में नहीं आते। चन्द्र को मैंने जो कुछ लिखा है, उसे बड़े मनोयोग से सुनना और धारणा करना। सिद्धि-सिद्धि (भाँग-भाँग) कहने मात्र से नशा नहीं होता। उसे खाना होगा (धारण करना होगा)। यदि अच्छे बनना चाहो, तो ठाकुर के उपदेश पकड़कर चलो। उपदेशों को केवल कण्ठस्थ करने से कुछ न होगा, स्वयं ठगे जाओगे और दूसरों को ठगोगे। सभी अच्छे बनो – यही मेरी प्रार्थना है।

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

(२)

श्री गुरुपद भरोसा

बेलूड़ मठ, २६-९-११

परम स्नेहास्पद नेपाल,

तुम्हारा पत्र यथासमय मिला है। तपस्या, स्वाध्याय, संयम, आचार से पवित्र और सत्यनिष्ठ होओ। इसी से श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान – सब अपने आप ही आ जायगा। प्रभु की कृपा से निश्चय ही मुझे भक्ति, प्रेम, भाव समाधि होगी – हृदय में ऐसी धारणा रखना। हमारे प्रभु कल्पतरु हैं।

सुना कि तुम महामाया की पूजा करोगे और श्रीयुत शुद्धानन्द जी तंत्रधारक होंगे। बड़ी ही सुन्दर व्यवस्था हुई है। मेरे मन में भी यही आया था। बाह्य आडम्बर को पूरी तौर से छोड़कर, केवल मन-प्राण को एक करके माँ के चरणों में फूल-जल देने से ही माँ ग्रहण कर लेती हैं। जब मन-प्राण देना भूलने लगा, तभी मंत्र-तंत्र की सृष्टि आरम्भ हुई। चन्द्र को बताना कि मैं प्रसन्न हूँ; तथापि रजस् और तमस् जितना कम हो, उतना ही अच्छा।

यहाँ पर जैसा हुआ करता है, वैसा ही होगा।

तुम लोग सभी मेरा प्रेम और शुभ कामनाएँ आदि ग्रहण करना। यहाँ सब कुशल है। इति

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

(३)

श्री गुरुपद भरोसा

बेलूड़ मठ, शनिवार, फरवरी, १९११

स्नेहभाजन नेपाल,

तुम्हारा पत्र मिला है। हृदय के साथ अन्तर्यामी प्रभु को पुकारो, वे अवश्य सुनेंगे। अच्छे होने की इच्छा होने से ही निश्चित रूप से अच्छे होओगे। सर्वदा यह जान रखना कि मैं श्री प्रभु की सन्तान हूँ। तभी उदार भाव उदार बुद्धि अपने आप आयेगी। खूब बड़ा होऊँगा, खूब अच्छा होऊँगा – यह भाव अति उत्तम है, इसका विशेष रूप से पोषण तथा पुष्टि करना। सबको – पृथ्वी के सभी लोगों को अपना बना लेना होगा। सभी अपने हैं, सभी श्री प्रभु के हैं। यहाँ हम लोगों को बहुत कार्य हैं, इसीलिए बारम्बार तुम्हारा स्मरण होने पर भी लिख नहीं पाता। तुम हमारे ही हो। खूब मन लगाकर पढ़ना -लिखना करो। विद्या ही नेत्र है, विद्या ही बल है और वही सत्संग है। तुम लोगों का यह विद्यार्जन का ठीक समय है। आलस्य तथा अन्य चर्चाओं का त्याग ब्रह्मचारी का परम धर्म समझना। तुम सभी मेरा स्नेह लेना। चन्द्र कैसा है? बीच बीच में समाचार लिखना। इस समय हम लोग सकुशल हैं।

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

(४)

श्री गुरुपद भरोसा

बेलूड़ मठ, शनिवार, १९-२-११

स्नेहभाजन नेपाल,

तुम अपने पिता के निर्देशानुसार चलना। यही तुम्हारा परम धर्म है। मेरा विश्वास है कि जो पुत्र पिता का अवज्ञाकारी होता है, वह किसी भी काल में किसी का भी आज्ञाकारी नहीं हो सकता। पिता की अपेक्षा दूसरा कौन हितकामी है? यदि तुम सर्वतोभावेन पिता की आज्ञा का पालन कर सको, तभी तुम हमारे हो सकोगे। मेरी इच्छा है कि अभी तुम मठ में मत आना। एक स्थान में रहकर निष्ठा का अभ्यास करना आवश्यक है। इस समय मन तथा इन्द्रिय तो चंचल होंगे ही। निष्ठा तथा अभ्यास के द्वारा उन्हें संयमित करने का अभ्यास करना होगा। यदि उन्नति करने की इच्छा हो, तो मन-वचन तथा कर्म से इसी का प्राणपण से अभ्यास करो। दुख की बात यह है कि आज गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) ने अपना नश्वर देह त्याग कर दिया। वे पूज्यपाद स्वामीजी के प्रथम शिष्य थे और उनकी बड़ी सेवा की थी। बड़ा कष्ट पा रहे थे, आज मुक्त हो गये। तुम सभी मेरा स्नेह तथा यथायोग्य शुभ कामनाएँ आदि स्वीकार करना। इति –

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

(५)

श्री गुरुपद भरोसा

बेलूड़ मठ, २७-१०-१३

स्नेहभाजन,

साधु होकर फिर घर-मकान बनाकर रहना – यह घोर विडम्बना है, महामाया का चक्कर है। इससे यदि ठाकुर न बचायें, तो मैं अन्य कोई उपाय नहीं देखता। अविद्या कितने ही जाल फैलाकर खेल करा रही है, इसकी कोई इति नहीं, कोई अन्त नहीं। रक्षा करो, ठाकुर! रक्षा करो; दिव्य चक्षु दो, नाथ, नशा दूर कर दो; निद्रा दूर कर दो, देव! अपने दोष देखना ही साधुत्व है। इति –

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

(६)

श्री गुरुपद भरोसा

काशीधाम, ३०-११-१६

कल्याणीय,

तुम सकुशल हो, यह सुनकर आनन्दित हुआ। पथ्य लेने में कोई गड़बड़ी न हो। ... यहाँ पर बड़ी ठण्ड पड़ रही है। आवश्यकतानुसार गरम कपड़े मँगाकर उपयोग करना। हरि महाराज के यहाँ आने की बात है। इच्छा है कि उनके आने पर एक साथ जामताड़ा और मिहिजाम होते हुए मठ जायेंगे।

महाराज (ब्रह्मानन्दजी) बंगलोर से कन्याकुमारी का दर्शन करने गये हैं। इसी बीच वे शिवसमुद्र नामक स्थान में जलप्रपात देख आये हैं। मठ में एक पण्डित की नियुक्ति हुई है। वे व्याकरण तथा साहित्य पढ़ा रहे हैं। लगभग दस-बारह ब्रह्मचारी अध्ययन कर रहे हैं। ठाकुर कहा करते थे कि यह शरीर आत्मा की एक व्याधि है। शरीर धारण करने से दु:ख लगे ही रहते हैं। तुम अपनी बीमारी के लिए जरा-सी भी चिन्ता मत करना। सर्वदा स्मरण रखना कि यह शरीर केवल भगवान को पुकारने के लिए है, इस कारण सर्वदा इस शरीर की सहायता से उनका स्मरण करना कर्तव्य है। 'मेरी इच्छामयी माँ अपनी इच्छानुसार घट-घट में विराज करती हैं।' ऐसा मत सोचना कि रोग की सेवा कर रहा हूँ। समझना कि माँ की सेवा कर रहा हूँ। इसी भाव के दृढ़ हो जाने पर इसे ज्ञान-भक्ति कहते हैं। महापुरुष जी यहाँ हैं। उनका तथा मेरा प्रेम तथा स्नेहाशीर्वाद जानना। प्रार्थना करता हूँ कि ठाकुर तुम्हारा अनन्त कल्याण करें। ध्यान-जप मत छोड़ना। इति –

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

(७)

श्री गुरुपद भरोसा

काशीधाम, ४-१२-१६

कल्याणवरेषु,

तुम थोड़े स्वस्थ हो, यह सुनकर मुझे सन्तोष हुआ। मन-ही-मन ठाकुर की पूजा करना। 'मन के पुष्प और नेत्रों के जल से उनकी अर्चना करो।' ठाकुर मन देखते हैं, फूल आदि की ओर वे इतना ध्यान नहीं देते। हरि महाराज पेचिश हो जाने के कारण आ नहीं पा रहे हैं, इसीलिए उनके यहाँ आने में विलम्ब हो रहा है। परन्तु उन्होंने यहाँ आने की खूब इच्छा व्यक्त की है। यहाँ हिन्दी में 'स्वामी-शिष्य-संवाद' तथा 'श्रीरामकृष्ण-उपदेश' पुस्तकें हैं, चन्द्र को लिखने से ही प्राप्त हो जायेंगी। ... तुम मेरा तथा महापुरुष जी का प्रेम स्वीकार करना। हम लोग सकुशल हैं।

जहाँ भी रहो, समझना कि ठाकुर अपने भक्तों को सर्वदा देख रहे हैं। विश्वास करो, हम लोग उनके दास हैं, उनकी सन्तान हैं, उनके अपने आदमी हैं। किसी भी व्यर्थ आशंका को अपने मन में जगह न देना। सुख में या दुख में, ठाकुर के भक्त सभी अवस्थाओं में मुक्त हैं। 'ब्रह्ममयी मेरी राजा हैं और हम लोग उनके विशेष तालुके की प्रजा हैं।' इसे सदा स्मरण रखना, भुलाने पर यमलोक जाओगे। श्री माँ के भक्तों को कोई डर नहीं, कोई भय नहीं। इति –

सर्वदा मंगलाकांक्षी, प्रेमानन्द

❖ (क्रमश:) ❖

माँ के चरणों में आश्रय

लक्ष्मीनारायण सिन्हा

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९०६ ई. की बात है उस समय मैं मेदिनीपुर जिले के तमलुक महकमें के अन्तर्गत महिषादल राज स्कूल में एंट्रेंस में पढ़ता था। फाइनल परीक्षा के पहले ही सेटलमेंट विभाग में नौकरी मिल गयी। नौकरी में पाँशकुड़ा थाने के अधीन आलूग्राम मौजे में पहला काम मिला। वहाँ का काम पूरा होने पर हमारी टीम दाँतन जाने वाली थी। उसी के अनुसार टीम के साथ दाँतन आया। रात में खाने-पीने के बाद अपने तम्बू में सोया था। एक अद्‌भुत स्वप्न देखा –

देखा – ठाकुर (पहले ही उनके बारे में सुन रखा था और चित्र भी देखा था) ने मेरी गरदन पकड़कर ले जाकर एक घूँघट निकाले महिला के पाँवों में डाल दिया। घूँघट तो था, पर चेहरा स्पष्ट दीख रहा था। प्रणाम करके उठकर उनके चेहरे की तरफ देखा – चित्र में देखी हुई माँ जानकी हैं! मैं हतप्रभ होकर देखता रहा, ठाकुर बोले, "यही तेरी माँ हैं।" सपना खूब स्पष्ट रूप से देखा था। माँ के पाँव तथा उनकी उंगलियों को भी स्पष्ट रूप से देखा था। माँ के पावों की एक उँगली में ताँबे की अंगूठी थी। प्रणाम करते समय यह अंगूठी मेरे हाथ से छू गयी थी। माँ को जिस रूप में देखा था, वही मेरी इष्टमूर्ति थी। वही चिन्मयी ज्योतिर्मयी मूर्ति अब भी मेरे नेत्रों के सामने स्पष्ट है। उस समय उन्होंने मुझे एक मंत्र दिया था। ये बातें अत्यन्त गुप्त होने के कारण यहाँ उनका उल्लेख नहीं कर रहा हूँ। स्वप्न टूटने पर देखा अभी भी काफी अँधेरा है। चार बजने में बीस मिनट बाकी थे। फिर बिस्तर पर रहने की इच्छा नहीं हुई। उठकर हाथ मुँह धोकर बाहर निकल आया। लौटकर थोड़ा-सा नाश्ता करके ऑफिस गया, वहाँ अपना निर्धारित काम समाप्त किया और अपने अफसर को कुछ दिनों की छुट्टी के लिये आवेदन दिया। इस पर वे बड़े नाराज होकर बोले, "अभी तो काम शुरू किया है, अभी छुट्टी नहीं मिलेगी।" सुनकर मन बड़ा खिन्न हो गया। दोपहर के भोजन के बाद जब दो बजे ऑफिस पहुँचा, तो देखा सभी लोग मुझे अवाक् होकर (आश्चर्य से) देख रहे हैं। वे लोग बोले – मेरा पूरा शरीर पीला हो गया है। मेरे अधिकारी के पास भी यह खबर पहुँची। उन्होंने मुझे बुलवाया। मुझे देखकर वे भी आश्चर्य से बोले, "लड़के, परिवार की चिन्ता के कारण तुम्हारा शरीर ऐसा हो गया है। ठीक है, तुम्हें कुछ दिनों की छुट्टी देता हूँ। तुम अभी घर चले जाओ।" मैं तुरन्त तैयार होकर शाम की ट्रेन से घर लौटा और एक होम्योपैथिक डॉक्टर को दिखाया। उन्होंने कहा, "पीलिया नहीं है, डरने की कोई बात नहीं। किसी बात को लेकर बहुत चिन्तित होने के कारण लीवर आंशिक रूप से क्षतिग्रस्त हो गया है। उन्होंने मुझे नक्स-वोमिका २०० दिया और किस प्रकार खाना होगा यह भी बता दिया। बोले – दो-एक दिन में ही ठीक हो जायेगा। सचमुच मैं दो-चार दिनों में ही ठीक भी हो गया।

इधर मैं स्वप्न में देखे हुए स्थान की तरह-तरह से खोज कर रहा था। परन्तु किसी भी तरह से पता न लगने पर एक दिन मैं तमलुक से स्टीमर में घाटाल आया। उस समय तमलुक से घाटाल के लिये स्टीमर चलता था। घाटाल उतरकर लोगों से पूछताछ की। किसी ने कहा, "कामारपुकुर चले जाइये। वहाँ जाने पर आपको पता चल सकता है।" सुनते ही मैंने चलना शुरू किया। रात के आठ बजे एक गाँव की एक दुकान पर पहुँचा। दुकानदार उस समय दुकान बन्द कर रहा था। मैंने उससे रात में ठहरने की जगह माँगी और पूछा कि क्या कहीं कुछ खाने को मिल सकता है? दुकानदार ने कहा, "नहीं।" तभी पीछे के कमरे से एक प्रौढ़ महिला निकलकर बोलीं, "खाना मिल जायेगा और रात में ठहरने की व्यवस्था भी हो जायेगी।" प्रौढ़ महिला सम्भवत: दुकानदार की माँ थीं। उन्होंने मुझसे घर के अन्दर आने को कहा और गरम पूरी-सब्जी खिलाया। अगले दिन सूर्योदय से पहले ही मैं निकल पड़ा और पैदल चलते-चलते दोपहर के बारह बजे कामारपुकुर जा पहुँचा। लोगों से पूछने पर उन्होंने मुझे एक मकान दिखा दिया और वहाँ जाकर पता करने को कहा। घर के सामने एक प्रौढ़ सज्जन मिले। अपने स्वप्न का थोड़ा-सा वृत्तान्त उन्हें सुनाने पर बोले, "ठीक जगह आये हो। अभी नहाकर खाओ-पीओ, फिर शाम को चाची के पास जाना।" 'चाची' कौन हैं – पूछने पर वे बोले, "मेरी चाची हैं। मैं ठाकुर का भतीजा हूँ।" तब समझा कि ये ठाकुर के भतीजे रामलाल हैं और 'चाची' माने ठाकुर की पत्नी श्री सारदा

देवी ! तो ठाकुर ने मुझे स्वप्न में उन्हीं के चरणों में डाल दिया था? वे ही मेरी स्वप्न में देखी हुई इष्टमूर्ति हैं।

मैं खूब थक गया था। हालदारपुकुर में नहाकर रामलाल दादा के घर में खाने के बाद सो गया। तीन बजे दादा ने मुझे जगाया और बोले, "मैं शिहड़ के रास्ते जा रहा हूँ। जयरामबाटी होकर शिहड़ जाने का रास्ता है। जाते समय रास्ते में तुम्हें जयरामबाटी का रास्ता दिखा दूँगा।" शाम के चार बजे मैं रामलाल दादा के साथ निकला। थोड़ी दूर जाने के बाद दादा ने मुझे जयरामबाटी का रास्ता दिखा दिया।

संध्या होने के पूर्व ही मैं जयरामबाटी पहुँच गया। थोड़ी दूर जाते ही स्वप्न में देखा हुआ वह मिट्टी का कच्चा मकान और फूस की छत दिखायी दिया। बहुत आनन्द हुआ। एक दरार से कमरे के भीतर दृष्टि गयी। स्वप्न में देखा था कि माँ के कमरे के एक कोने में ढेर सारे आलू रखे हैं। यहाँ भी वही देखा। परन्तु स्वप्न में देखी वह मातृमूर्ति कहाँ हैं? माँ के कमरे में (पुराना घर) घुसकर देखा – तीन जन बरामदे में बैठे हैं। बाद में जाना, वे तीनों माँ के भाई हैं। उनके साथ परिचय हुआ। तभी भोजन का बुलावा आया। मामा लोगों के साथ खाने बैठा। जो परिवेशन कर रही थीं, उन्होंने मेरा नाम लेकर सम्बोधित किया। अपना नाम सुनकर मैंने अवाक् होकर उनकी तरफ देखा। देखा – वही स्वप्न में देखा हुआ चेहरा है। मेरा पूरा शरीर रोमांचित हो उठा। मेरा हाथ पत्तल में था, पर कौर नहीं उठ रहा था, मैं चकित होकर उन स्वप्नदृष्ट मातृमूर्ति को देखता रहा। माँ ने कहा, "क्या हुआ बेटा, खाओ न।" मैं खाने लगा। पर मेरा विस्मय नहीं गया। सोचने लगा – माँ ने कैसे मेरा नाम जाना?

खैर, मैं हाथ-मुँह धोकर मामा लोगों के साथ बरामदे में बैठकर बातें कर रहा था। मैंने कुतूहलवश पूछा, "जो भोजन परोस रही थीं, वे कौन थीं? मामा लोग बोले, "वे ही माँ हैं – हमारी दीदी।" मामा लोगों के साथ बातचीत कर रहा था, तभी मेरे पास आकर मेरे नाम से सम्बोधित करती हुई माँ ने कहा, "यह दूध पी लो।" देखा – उनके हाथ में पत्थर के कटोरे में दूध है। मेरे लेने में आनाकानी करते हुए देखकर उन्होंने कहा, "आज दूध ज्यादा नहीं। सबको पूरा नहीं पड़ेगा, तुम भी लो।" दूध पी लेने के बाद उन्होंने कहा, "अब माड़ो में जाकर सो जाना।" माड़ो अर्थात् सिंहवाहिनी देवी के मन्दिर का बड़ा झोपड़ा। एक मामा ने ले जाकर मुझे सिंहवाहिनी का झोपड़ा दिखा दिया। लौटते समय कह गये कि अगले दिन सुबह आठ बजे नाश्ते के लिये घर आ जाना।

रात को बड़ी अच्छी नींद आई। सुबह नित्यकर्म से निपटकर आठ बजे के पहले ही माँ के घर पर पहुँच गया। आठ बजे मामा लोगों के साथ जलपान कर बरामदे में बैठकर बातचीत कर रहा था। नौ बजे मामा लोग काम पर चले गये। मैं माँ के पास जा बैठा। माँ बरामदे में एक ओर बैठकर सब्जियाँ काट रही थीं। सिर पर घूँघट नहीं था। माँ को प्रणाम करके उठते ही उन्होंने पूछा, "तुम्हारा घर कहाँ है?" मैंने कहा, "तमलुक महकमे में महिषादल थाना के कुमारसाड़ा गाँव में। माँ बोलीं, "नहीं, तुम नहीं जानते, तुम लोगों का आदि निवास मुर्शिदाबाद में है। गदाधर सिन्हा तुम्हारे पूर्वज और जमींदार थे।"[१] अगले दिन सुबह सूर्योदय के पहले ही सड़क पर मँझले मामा (काली मामा) से भेंट हुई। वे बोले, "दीदी ने कहा है कि बिना कुछ खाये, स्नान करके कुछ फूल लेकर दीदी के पास चले आना।" मामा के कथनानुसार माँ के घर जाकर देखा कि माँ पूजा कर रही हैं। कमरे में एक आसन बिछा है। माँ ने मुझे इशारे से उस पर बैठने को कहा। पूजा समाप्त करने के बाद उन्होंने मेरे शरीर पर और फूलों पर भी गंगाजल छिड़का। इसके बाद माँ ने मुझे मंत्रदीक्षा दी। मैंने स्वप्न में जो मंत्र पाया था, वही दिया। मन आनन्द से भर उठा। दीक्षा के बाद अपने सामने ही जप करने को बोलीं। जप समाप्त होने पर उन्होंने मुझे कुछ उपदेश दिये और बोलीं, "मैंने मंत्र तो दिया, पर मैं तुम्हारी गुरु नहीं हूँ। ठाकुर ही तुम्हारे गुरु हैं और इष्ट भी।" जो फूल बच गये थे, उन्हें माँ के चरणों में देकर साष्टांग प्रणाम किया। माँ ने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, "भक्ति हो।" तारीख मुझे याद नहीं, फिर भी १९०६ ई. के माघ मास की एकादशी तिथि थी। उस दिन मुझसे पहले माँ ने एक अन्य व्यक्ति को दीक्षा दी थी। उनका नाम था – सिन्धुनाथ पण्डा।

अगले दिन माँ से घर लौटने की बात कहने पर वे बोलीं, "तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। कुछ दिन और यहीं ठहरो। तीन-चार दिन के बाद पुन: घर लौटने की बात माँ से कहने पर माँ ने कोआलपाड़ा होकर विष्णुपुर जाने की बात कही। कोआलपाड़ा में केदार महाराज को पत्र लिख दिया कि वे मुझे दो-एक दिन कोआलपाड़ा में रखें और वहाँ से विष्णुपुर तक जाने के लिये बैलगाड़ी की व्यवस्था कर दें।

माँ के स्नेह-प्रेम तथा देखभाल की कोई तुलना नहीं। अपनी गर्भधारिणी माँ की अकालमृत्यु हो जाने से उनका स्नेह पाने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। अत: माँ का स्नेह कैसा होता है – इसका अनुभव मुझे नहीं हुआ था। परन्तु माँ के पास मुझे जिस स्नेह-प्रेम का आस्वादन मिला, उससे मेरा देह-प्राण-मन भर गया था। आज भी मैं उस स्नेह-प्रेम से परिपूर्ण हूँ। जयरामबाटी से विदाई के दिन प्रणाम करके जब

१. इस विषय में मैं पहले कुछ भी नहीं जानता था। अत: उस समय माँ से सुनकर आश्चर्यचकित रह गया। लेकिन बाद में घर आकर पिताजी से सुना कि माँ ने जो कुछ कहा था, सब ठीक था। हमारे पूर्वजों का पैतृक घर मुर्शिदाबाद में था और हमारे आदिपुरुष का नाम भी गदाधर सिन्हा था।

मैंने रुद्ध कण्ठ से पूछा, "माँ, जीवन किस प्रकार बिताऊँगा?" माँ ने कहा, "जैसे हो, वैसे ही रहना। भय की कोई बात नहीं बेटा, मुझ माँ के रहते भय कैसा? मैं तुम लोगों की चिरकाल की माँ हूँ। रोज 'वचनामृत' पढ़ना। कैसे जीवन बिताओगे, इस विषय में सारे उत्तर उसमें मिल जायँगे।" मैंने पूछा, "वचनामृत क्या है?" माँ बोलीं, "ठाकुर की बातें हैं। मास्टर ने लिखी है।" मैंने पूछा, "मास्टर कौन है?" माँ ने कहा, "ठाकुर का एक गृही शिष्य – हेडमास्टर है। कलकत्ता में रहता है। महेन्द्रनाथ गुप्त नाम है। अभी तक 'वचनामृत' के दो खण्ड ही निकले हैं; अभी और भी कई खण्ड निकलेंगे। कलकत्ते जाना, तो मास्टर से मिलना। बेलूड़ जाना, तो वहाँ मठ में ठाकुर के कई शिष्य हैं, उनका संग करना। राखाल और बाबूराम का संग करना।" यह पूछने पर कि राखाल एवं बाबूराम कौन हैं? माँ बोलीं, "राखाल मठ का अध्यक्ष है, ठाकुर का मानसपुत्र। बाबूराम ठाकुर का एक अन्य त्यागी शिष्य है, मठ की माँ हैं – प्रेम की मूर्ति है। उनका दर्शन करने से तुम्हारा जीवन धन्य हो जायगा।" घर लौटकर मैंने माँ की सारी बातें अन्य किसी से नहीं कही, तो भी एक सम्बन्धी को बताने पर उन्होंने जयरामबाटी जाकर माँ का दर्शन किया और उनसे मंत्रदीक्षा ली। १९११ ई. में वे कोआलपाड़ा मठ में शामिल हो गये। १९१६ ई. में स्वामी ब्रह्मानन्द से उनका संन्यास हुआ, नाम हुआ – स्वामी धर्मानन्द।

खैर, जो कह रहा था – विदाई के समय माँ के नेत्रों से आँसू झर रहे थे, मेरे भी नेत्रों से आँसू बह रहे थे। माँ मेरे साथ-साथ आ रही थीं। कुछ दूर आने के बाद मैंने कहा, "माँ, अब आप आगे मत जाइये।" मैं पुन: माँ को प्रणाम करके कोआलपाड़ा के पथ पर चल पड़ा। माँ उस समय खूब रो रही थीं। करुणा मानो आँसुओं के रूप में बह रही थी। कुछ दूर जाकर पीछे मुड़कर देखा – माँ तब भी वहीं खड़ी थीं। समझ गया कि वे अब भी रो रही हैं। बहुत दूर जाने के बाद देखा, माँ तब भी खड़ी धुँधली-सी दीख रही थीं। वह दृश्य भूलाया नहीं जा सकता। अब भी भूल नहीं सका हूँ।

कई दिन बाद बेलूड़ मठ गया। वहाँ राजा महाराज और बाबूराम महाराज को प्रणाम करके माँ के बारे में बताने पर वे बड़े खुश हुए और बोले, "तुम तो हमारे ही घर के लड़के हो – अपने आदमी हो। कुछ दिन मठ में रहो।" उस समय राजा महाराज की बहुत कृपा पायी थी। अधिकांश समय उन्हें अन्तर्मुखी देखता। बैठे हैं, लेकिन मन मानो किसी अन्तर्जगत् में खो गया है। साधु-ब्रह्मचारी-भक्त लोग उनके चरणों में बैठे रहते। कोई बातचीत नहीं, पर सभी का मन एक पवित्र आनन्द से परिपूर्ण है। उनकी कृपा से जो कुछ दिन मैंने मठ में निवास किया है, उन दिनों मुझे भी ऐसे क्षणों में उनके चरणों में बैठने का सौभाग्य मिला है। उस दिव्यानन्द को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने कृपा करके अपनी छोटी-मोटी सेवा का सौभाग्य भी मुझे दिया था।

बाबूराम महाराज का भी खूब प्रेम मिला है। उनका प्रेम जिसे एक बार भी मिला है, वह उसे कभी नहीं भूल सकता। वह इस पृथ्वी का प्रेम नहीं, स्वर्गीय प्रेम था, जिस प्रेम का आस्वादन मुझे माँ के पास मिला था। बाबूराम महाराज का प्रेम सचमुच असाधारण था। उनकी ठाकुर-पूजा देखने योग्य होती। उनके शरीर का अंग चम्पा के फूल जैसा था। हथेली तथा पैरों का तलवे हल्के गुलाबी रंग के थे। दो-तीन दिन मठ में रहने के बाद जब मैंने घर लौटने की बात कही, तो बाबूराम महाराज बोले, "अभी-अभी तो आया है, अभी कुछ दिन और रह न! चार-पाँच दिन बाद जब फिर कहा, तो पुन: वही बात। इस प्रकार अनेक दिनों का अच्छा मठवास हो गया। उसी समय ठाकुर की जन्मतिथि का उत्सव पड़ा था। बाबूराम महाराज ने मुझे उत्सव में मिठाई के भण्डार का दायित्व सौपा था। उत्सव के दिन प्रचुर मात्रा में भात, पूरी, खिचड़ी, सब्जी, मिठाई प्रसाद खिलाने की भी व्यवस्था थी।

❖ **(क्रमश:)** ❖

भगवान हैं और उन्हें देखा जा सकता है

रात के समय तुम आकाश में अनेक तारे देखते हो, पर सूर्योदय होने पर नहीं देखते। तो क्या इसी कारण तुम कह सकते हो कि दिन के समय आकाश में नक्षत्र नहीं होते? हे मानव, चूँकि तुम अपनी अज्ञान-अवस्था में भगवान को देख नहीं पाते, इसी कारण यह न कहो कि भगवान नहीं हैं।

भगवान के असंख्य नाम और अनन्त रूप हैं जिनके माध्यम से उनके निकट पहुँचा जा सकता है। जिस किसी भी नाम और रूप में उनकी पूजा करोगे, उसी के माध्यम से उन्हें प्राप्त कर लोगे।

अग्नि का कोई एक आकार नहीं है, पर जलते अंगारों के रूप में उसके अनेक विभिन्न आकार हो जाते हैं। अग्नि निराकार होकर भी आकारयुक्त दिखाई देती है। इसी प्रकार निराकार भगवान भी साकार होकर नाना स्थूल रूप धारण कर लेते हैं। – *श्रीरामकृष्ण*

सन्त नामदेव : एक जीवन झाँकी

सन्त नामदेव उच्च कोटि के सन्त थे। वे भगवान के परम भक्त, अनन्य प्रेमी और सिद्ध महात्मा थे। उनका सम्पूर्ण जीवन विट्ठल भगवान के चरणों में समर्पित था। नामदेव का समय वि. संवत् १३२७ से १४०७ है, इस पवित्र अवधि में उन्होंने दक्षिण और उत्तर भारत में सन्त मत की जिस प्रगाढ़ भगवद्भक्ति से परिपुष्ट की उसकी मौलिकता और अपूर्वता में जरा भी सन्देह नहीं किया जा सकता है। सिखों के 'आदि ग्रन्थ' में उनकी अनेक रचनाओं का संकलन उनकी महत्ता का परिचायक है। उनके इष्ट विट्ठल थे।

महाराष्ट्र के पाँच प्रमुख सन्तों में उनकी गणना होती है। वे सन्त ज्ञानदेव, एकनाथ, रामदास और तुकाराम की श्रेणी में आते हैं। यवनों की राजसत्ता से उत्पीड़ित भारत में उन्होंने शान्ति की निर्झरिणी बहायी। उन्होंने जनता को सरस भगवद्भक्ति प्रदान किया, सन्तमत के संरक्षण में उसे अभय किया।

सन्त नामदेव का जन्म परम वैष्णव कुल में हुआ था। उनके पूर्वज बड़े निष्ठावान भक्त थे। उनके एक पूर्वज यदुसेठ भगवान विट्ठल के अनन्य भक्त थे। वे हैदराबाद में सतारा जिले के कन्हाड़ के निकट नरसी ब्राह्मणी गाँव में रहते थे। उनका कुल भगवद्भक्ति आचार-निष्ठा और सन्तसेवा से परम पवित्र हो गया। इसी भागवत परिवार में वि. सं. १३२७ में कार्तिक शुक्ल एकादशी अथवा प्रतिपदा को सन्त नामदेव ने जन्म लिया। उनके माता-पिता गोणाई और दामासेठ भी बड़े भक्त थे। शिशु नामदेव में अलौकिक तेज और दिव्य गुण देखकर उन्होंने स्वयं को परम धन्य माना। नामदेव का लालन-पालन उन्होंने उचित ढंग से किया और इस बात का ध्यान रखा कि उन्हें सदा सन्तों-ज्ञानियों का संग मिलता रहे और वे भगवान के भक्त बनें। गाँव के बाहर केशिराज शिव का एक मन्दिर था। दामासेठ नित्य शिव की पूजा करने जाते थे। वे प्रतिवर्ष भगवान विट्ठल के दर्शन हेतु पण्ढरपुर जाते और भगवान से अनुराग बढ़ जाने पर वे वहीं बस गये। पिता के आचरण का नामदेव के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

नामदेव के शैशव-काल में एक दिन एक विचित्र घटना हुई। उनके घर में श्रीविट्ठल का विग्रह था। नामदेव के पिता विधिपूर्वक नित्य उनकी उपासना और पूजा करते थे। एक बार दामासेठ को किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाना पड़ा। वे विट्ठल को नित्य दूध का नैवेद्य दिया करते थे। उन्होंने अपने भागवत पुत्र नामदेव को दूध अर्पण करने का भार सौंपा था। नामदेव विट्ठल का नाम सुनते ही आनन्द से 'जय विट्ठल' कहते-कहते विट्ठलमय हो जाया करते थे। जब पिता ने उनसे भगवान को दूध अर्पित करने की बात कही, वे बड़े प्रसन्न हुए। पिता की अनुपस्थिति में वे कटोरे में दूध लेकर विट्ठल के विग्रह के सामने बैठ गये और आँखें बन्द करके धीरे से कहा, "दूध पी लो।" कुछ देर बाद उनके मन में आया कि विट्ठल ने दूध पी लिया होगा। बालक नामदेव नेत्र खोले, पर यह देख निराश हुए कि भगवान ने अब तक दूध नहीं पीया है। नामदेव ने सोचा कि मेरी सेवा में कोई त्रुटि आ गयी होगी, इसीलिए करुणामय प्रभु ने कटोरे की ओर देखा तक नहीं। उन्होंने कहा, "विट्ठल, पिता तो बड़ी पवित्रता से दूध पिलाते हैं, मैं तो अभी बच्चा हूँ, मुझसे अवश्य सेवा में भूल हो गयी है। परन्तु यदि दूध पड़ा रहेगा, तो मैं भी दूध नहीं पीऊँगा।' वे विट्ठल की ओर व्यग्र होकर देखने लगे। उनके मन में बड़ा दुख था कि विट्ठल ने दूध नहीं पीया।

भगवान को भाव चाहिए। दयामय प्रभु नामदेव के सामने प्रगट हो गये और दूध पीने लगे। परिवेश धन्य हो उठा। दामासेठ जब तक गाँव नहीं लौटे, तब तक नामदेव प्रतिदिन उन्हें दूध पिलाते रहे। लौटकर जब पिता को वास्तविकता का ज्ञान हुआ, तो उनका शरीर रोमांचित हो उठा। उन्होंने नामदेव को गले लगा लिया और बोले – तुमने न केवल मेरा घर, अपितु समस्त पण्ढरपुर की धरती और भरतखण्ड के कण-कण को आपनी भक्ति से पवित्र और धन्य बना दिया।

नामदेव की विट्ठल में भक्ति बढ़ने लगी। आठ साल की अवस्था में गोविन्द सेठ की कन्या राजई के साथ नामदेव का विवाह कर दिया गया। कुछ दिनों बाद पिता का देहान्त हो गया। घर-गृहस्थी सँभालने का भार नामदेव के कन्धों पर आ पड़ा। उनकी माता और स्त्री की बड़ी इच्छा थी कि नामदेव व्यापार में लगें, घर की उन्नति करें, पर भगवान विट्ठल के राज्य का प्रवेशपत्र तो उन्हें घरवालों के ऐसा सोचने के पहले ही मिल गया था। नामदेव प्रभु के कीर्तन-भजन और चिन्तन में मग्न थे। उनके लिए तो चन्द्रभागा में स्नान, पुण्डलीक के दर्शन और पण्ढरीनाथ के स्मरण से बढ़कर संसार में अन्य कोई व्यापार न था। संसार उन्हें फीका लगता था। वे पण्ढरपुर में ही रहकर दिन-रात भगवान विट्ठल के नामामृत का रसास्वादन करने लगे। वे सरस अभंगों की रचना कर रुक्मिणी और विट्ठल को रिझाने लगे। पण्ढरपुर में उन दिनों गोरा कुम्हार और साँवता माली जैसे सन्तों से मिलना नामदेव महाराज के लिये अत्यन्त सुलभ था। वे उनके सत्संग से अपने जीवन को पूर्ण रूप से विट्ठलमय बनाने लगे।

नामदेव की भक्ति विट्ठल में इतनी बढ़ गयी कि दयामय प्रभु उनसे एक क्षण के लिये भी अलग नहीं रह सकते थे। वे नामदेव के सामने प्रकट रूप से माया-मनुष्य-हरि के रूप में

सारा व्यवहार करते थे, अपने भक्त की हर कामना की पूर्ति में लगे रहते थे। इधर नामदेव भी बिना प्रभु-दर्शन के एक क्षण भी सुखी नहीं रह पाते थे। प्रीति का पथ निराला होता है। विट्ठल और नामदेव – दोनों की एक-दूसरे के प्रति प्रगाढ़ प्रीति थी। कितने सौभाग्यशाली थे सन्त नामदेव !

नामदेव के समकालीन सन्तों में सन्त ज्ञानेश्वर की बड़ी प्रसिद्धि थी। वे नामदेव से मिलने पण्ढरपुर आये थे। उनके मन की बड़ी इच्छा थी कि नामदेव तीर्थयात्रा में उनके साथ रहें। दोनों एक-दूसरे के सत्संग और पारस्परिक सम्पर्क से प्रभावित थे। ज्ञानदेव ने नामदेव से तीर्थयात्रा में साथ देने की बात कही। नामदेव ने बड़ी सरलता और कोमलता से उत्तर दिया – मैं श्री पाण्डुरंग भगवान को देखे बिना एक क्षण भी नहीं जीवित रह सकता, परन्तु आप सन्त हैं, उन्हीं के साक्षात् स्वरूप हैं, यदि वे प्रभु आपके साथ जाने की आज्ञा प्रदान कर दें, तो मुझे आपत्ति नहीं हो सकती। यह तो मेरा परम सौभाग्य होगा कि आप जैसे महान् सन्त मुझे अपने सम्पर्क से धन्य करने की बात सोच रहे हैं। – कहते-कहते नामदेव के रोम-रोम में आनन्द छा गया।

भक्त की बात, ज्ञानदेव ऐसे महात्मा की वकालत और पाण्डुरंग का न्यायालय ! ज्ञानेश्वर ने प्रभु के सामने नामदेव के मन की बात रखी। प्रभु ने कहा, "नामदेव मेरा परम प्रिय है। मैं उसे क्षण भर के लिये भी अपने से दूर नहीं करना चाहता। यदि ले ही जाने की इच्छा हो, तो मार्ग में उनका पूरा ध्यान रखना होगा।" इस प्रकार करुणामय पण्ढरीनाथ की कृपा से नामदेव का जीवन धन्य हो गया। सन्त नामदेव की 'रहनी' कितनी सफल, सार्थक और पुण्यमय थी !

सन्त नामदेव भगवान विट्ठल के आदेश से महात्मा ज्ञानदेव के साथ तीर्थयात्रा पर निकल पड़े। ज्ञानदेव ने उन्हें परमात्मा की सर्व-व्यापकता का तत्त्व समझाया, पर उनका मन सगुण भक्ति में सराबोर था। उन्होंने ज्ञानदेव से कहा, "प्रभु विट्ठल ही पूजनीय हैं; प्राणी को उन्हीं के भजन-चिन्तन और स्मरण में लगे रहना चाहिये। श्रीकृष्ण का प्रेम ही जीवन का श्रेय है। पाण्डुरंग ही मेरे प्राणधन हैं।" सन्त ज्ञानेश्वर का निर्गुण ज्ञान उनके लिये सर्वथा नीरस था। वे तो अनवरत विट्ठल का ही सरस मधुर नाम स्मरण करते हुए चले जा रहे थे। प्रभास, द्वारका आदि तीर्थों से लौटते समय बीकानेर के निकट मार्ग में एक विचित्र घटना हुई। नामदेव और ज्ञानदेव दोनों ही बड़े प्यासे थे। कौलाकत गाँव में एक कुआँ दीख पड़ा। ज्ञानदेव सिद्ध योगी थे। लघिमा सिद्धि का उपयोग करके वे कुएँ में चले गये और पानी पीकर नामदेव के लिये जल लेकर बाहर आ गये। सन्त नामदेव भक्त थे। उन्होंने जल पीना अस्वीकार कर दिया और नम्रतापूर्वक कहा – विट्ठल को मेरी प्यास की चिन्ता अवश्य होगी। उनका इतना कहना था कि पानी कुएँ में ऊपर तक आ गया और उन्होंने पीकर प्यास शान्त की। भक्त के लिये भगवान की सेवा का यही रूप है। वे अशरण के शरणदाता हैं और अपने प्रेमियों को रिझाने के लिये छोटा -से-छोटा तक कार्य करने के लिये कटिबद्ध रहते हैं।

काशी से पण्ढरपुर लौटते समय यात्रादल विश्राम हेतु तेरढोकी नामक स्थान में गृहीसन्त गोरा कुम्हार के घर ठहरा। गोरा उच्च कोटि के ज्ञानी सन्त थे। इस यात्रा में ज्ञानदेव के साथ मुक्ताबाई भी थीं। गोरा कुम्हार की प्रसिद्धि 'चाचा' नाम से थी। गोरा कुम्हार के घर पर सत्संग चल रहा था। थोड़ी दूर पर एक थापी दीख पड़ी। मुक्ताबाई ने विनोद के स्वर में कहा – चाचाजी, वह क्या है? गोरा ने कहा – यह थापी है, इससे घड़े के कच्चे और पक्के होने की जाँच की जाती है। मुक्ताबाई बोलीं – हम लोग भी तो मिट्टी के घड़े के ही समान हैं। गोरा ने कहा – ठीक है; और उन्होंने थापी से एक-एक के सिर पर थापी से ठोकना शुरू किया। सन्त नामदेव को यह बात अच्छी न लगी। गोरा ने उनके सिर पर थापी रखकर कहा – नामदेव, अभी तुम कच्चे घड़े हो, तुमने अभी तक गुरु नहीं किया। नामदेव को बड़ा दुख हुआ।

पण्ढरपुर लौटने पर उन्होंने विट्ठल के समक्ष यह बात रखी। भगवान ने गोरा की बात का समर्थन किया। प्रभु बोले – यद्यपि तुम मेरे परम भक्त हो, तथापि जब तक गुरु की शरण में जाकर उनके चरणों पर अपना अहंकार समर्पित नहीं करते, तब तक कच्चे ही रहोगे। भगवान के आदेश से सन्त नामदेव ने बिसोबा खेचर को अपना गुरु बनाया। बिसोबा पहुँचे हुए महात्मा थे। नामदेव ने उनसे पूर्ण तत्त्वज्ञान का बोध प्राप्त किया। उनके गुरुमुख होने के बारे में एक विचित्र घटना का उल्लेख मिलता है। विट्ठल ने स्वप्न में उन्हें बिसोबा खेचर को गुरु बनाने का आदेश दिया था। नामदेव उनकी खोज में चल पड़े। एक शिव-मन्दिर में उनका पता लग गया। नामदेव ने एक वृद्ध को शिवलिंग पर पैर फैलाये देखा। नामदेव के विरोध करने पर उस व्यक्ति ने कहा – मेरे पैर ऐसी जगह रख दो, जहाँ शिवलिंग न हो। नामदेव ने पैर ज्योंही हटाया, त्योंही दूसरे स्थान पर भी शिवलिंग प्रगट हो गया। नामदेव ने समझ लिया कि वे ही बिसोबा खेचर हैं।

उन्होंने उन्हीं से दीक्षा ली। नामदेव ने अपने अभंगों में अपने गुरु की बड़ी महिमा गायी है। उन्होंने एक पद में कहा है – मेरा मन सूई है, तन धागा है, मैंने खेचरजी का चरण पकड़ा है। गुरु ने मेरा जन्म सफल कर दिया है। मैं दुख भूल गया, मेरा अन्तर आनन्दमय हो उठा। गुरु ने मेरे नेत्रों में ज्ञान का अंजन लगाया, बिना रामनाम के मेरा जीवन मणि ही था। मैंने गुरु की कृपा से प्रभु का स्मरण किया और भगवन्मय हो गया। नामदेव की गुरुनिष्ठा अनुकरणीय है। इस प्रकार सन्त ज्ञानेश्वर के साथ नामदेव की तीर्थयात्रा सफल हुई।

वे पण्ढरपुर लौटकर पाण्डुरंग के प्रेम-रंग में डूब गये। सन्त नामदेव ने कुछ दिनों तक पंजाब प्रान्त में भी रहकर कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया था। गुरुदासपुर जिले के धोमन गाँव में उन्होंने असंख्य लोगों का अपने सत्संग और पाण्डुरंग की भक्ति से कल्याण किया। धोमन गाँव के निवास काल में उन्होंने अनेक हिन्दी पदों की भी रचना की थी, जिनमें से अधिकांश गुरुग्रन्थ साहब में संग्रहित हैं। उनके जीवन के पूर्वार्ध का अधिकांश भाग पण्ढरपुर में बीता और उत्तरार्ध का अधिकांश भाग का सदुपयोग उत्तर भारत में हुआ।

नामदेव वारकरी सम्प्रदाय के आदि सन्तों में से एक थे। महाराष्ट्र में उन्होंने विष्णुभक्ति और सन्त-मत का संगम उपस्थित किया। उन्होंने सर्वत्र भगवान का विट्ठल रूप में दर्शन किया। वे सन्त थे, पूर्ण निरपेक्ष और निष्पक्ष थे। वे सम्प्रदाय और जाति के भेदभाव से ऊपर उठे हुए थे। वे समदर्शी महात्मा थे। उन्होंने उस परम तत्त्व को प्रणाम किया, जिसका विवेचन उन्होंने अपने सद्गुरु से प्राप्त किया था। उनके गुरु ने उन्हें परम तत्त्व का दर्शन कराया था। उनकी उक्ति है – मैं उस परम तत्त्व को प्रणाम करता हूँ, जिसको मुझे गुरु ने दिखाया था। नामदेव ने अत्यन्त दीन और विनम्र भाव से भगवान की शरणागति-याचना की। उन्होंने अपने एक पद में कहा है – "राम मेरे स्वामी हैं। मैं उन्हीं का शृंगार करता हूँ। संसार मेरी निन्दा भले करे, पर मेरा तन-मन तो राम के ही योग्य हैं। मैं किसी से विवाद नहीं करता हूँ। मेरी रसना सतत राम -रसायन पीती रहती है ! मैं स्तुति-निन्दा से परे होकर श्रीरंग विट्ठल को प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं डंके की चोट पर उनसे मिलना चाहता हूँ। वे ही मेरे प्राणधन – सर्वस्व हैं।"

सन्त नामदेव के जीवन में विलक्षण और अद्भुत घटनाओं का समावेश मिलता है। एक बार सन्त नामदेव आलावती पर गये। भगवान के प्रेम में आत्मविभोर होकर वे मन्दिर के सामने बैठकर कीर्तन करने लगे। पण्डों ने शुद्र जानकर उन्हें वहाँ से उठा दिया, वे मन्दिर के पीछे जाकर कीर्तन करने लगे। मन्दिर का दरवाजा पूर्व से पश्चिम हो गया। भगवान अपने भक्तों का अपमान नहीं सह सकते हैं, वे हर स्थिति में उनका सम्मान सुरक्षित रखते हैं। प्रभु ने नामदेव की प्रसन्नता के लिये मन्दिर का दरवाजा ही घुमा दिया।

एक बार नामदेव की कुटिया में आग लग गयी, एक ओर की वस्तुएँ जलती देखकर उन्होंने दूसरी ओर की वस्तुओं को आग में फेंकना आरम्भ किया। लाल-लाल लपटों में उन्हें अग्निवेष में विट्ठल का दर्शन हुआ। उन्होंने कहा – प्रभु, इस अग्नियज्ञ में मैं भी था, अब इनको स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें। आग ने भयंकर रूप धारण किया और सारी कुटिया जल गयी। नामदेव को इसकी तनिक भी चिन्ता न थी। प्रभु ने मजदूर के वेष में प्रकट होकर उनकी कुटी छा दी। अपनी भावना के अनुरूप ही भगवान का दर्शन होता है।

एक बार सन्त नामदेव एक गाँव के सूने मकान में रहने लगे। उसमें एक ब्रह्मराक्षस रहता था। गाँव वालों ने कहा कि इस मकान में रहने से उनके प्राण संकट में पड़ जायेंगे। नामदेव बोले, "विट्ठल ही तो हर स्थान में हैं। वे भूत के रूप में भी रह सकते हैं।" आधी रात को भूत प्रकट हो गया, उसका शरीर लम्बा था, देखने में विकराल और भयंकर था। नामदेव ने भूत के रूप में विट्ठल की स्तुति की। उन्होंने कहा – मेरे लम्बकनाथ, आज तो आपका रूप कुछ विचित्र ही है। आपका सिर स्वर्ग तक है और पैर धरती पर हैं, शिव-सनक आदि भी अनेक साजों में आपके इस विचित्र रूप का पार नहीं पा सकते। आप मेरे स्वामी हैं, प्रभु मुझे सफल-मनोरथ करें। नामदेव ने देखा कि उनके नयनों के सामने शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये साक्षात् पाण्डुरंग ही खड़े हैं। प्रभु की मन्द-मन्द मुस्कान ने नामदेव का मन मोह लिया।

एक बार सन्त नामदेव ने एक जंगल में पेड़ के नीचे कुछ रोटियाँ बनायी। वे लघुशंका करने को उठे, तो एक कुत्ता उन रोटियों को लेकर भागने लगा। नामदेव हाथ में घी की कटोरी लिये उसके पीछे दौड़ पड़े। उन्होंने बड़ी व्यग्रता से कहा – प्रभु, पहले मुझे रोटियों में घी तो लगा देने दीजिये, ये रूखी रोटियाँ आपके योग्य नहीं हैं। भगवान तो भाव के भूखे हैं। कुत्ते में ही पाण्डुरंग प्रकट हो उठे। नामदेव ने चतुर्भुज रूप में विट्ठल का दर्शन किया और प्रभु के चरणों पर गिर पड़े। भगवान ने उन्हें गले से लगाया।

सन्त नामदेव ने अस्सी साल की आयु में देहत्याग किया। वि. सम्वत् १४०७ में श्रावण कृष्ण द्वादशी तिथि को विट्ठल मन्दिर के महाद्वार पर पाण्डुरंग के सामने ही उनके प्राणों ने देह त्यागकर भागवती ज्योति में प्रवेश किया। सन्त नामदेव की समाधि पण्ढरपुर में है। भगवान ने उन्हें बारम्बार दर्शन देकर कृतार्थ किया था। नामदेव ने अपनी रसमयी वाणी से भक्तिपति विट्ठल का गुणानुवाद कर इहलोक-परलोक ही नहीं बनाये, असंख्य प्राणियों को संसार-सागर से पार होने का महामन्त्र भी बताया। 'गुरु-ग्रन्थ-साहब' में संकलित उनकी अनेक रचनाओं में से एक इस प्रकार है –

भाई रे, इन नैननि हरि देखौ।
हरि की भगति, साध की संगति, सोई दिन धनि लेखौं।
चरन सोइ जे नाचत प्रेम सूं, कर सोई जिन हरि पूजा।
सीस सोई जो नवै साध कूं, रसना अवर न दूजा ।।
यह संसार हाट का लेखा, सब कोई बनिजहिं आया।
जिन जस लादा तिन तस पाया, मूरख मूल गँवाया ।।
आतमराम देह धरि आया, तामे हरि कूं देखौ।
कहत नामदेव बलि बलि जैहौं, हरि भजि और न लेखौं।

❑ ❑ ❑

स्वामीजी का गाजीपुर-प्रवास (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

गाजीपुर से ही **फरवरी** (१८९०) के मध्य में ही उन्होंने बलराम बोस के नाम बारहवाँ पत्र लिखा, जिस पर तारीख अंकित नहीं है। बँगला पत्रावली की पाद-टिप्पणी के अनुसार इस पर कलकत्ते के डाकघर का २० फरवरी की मुहर लगी है, इससे पता चलता है कि यह फरवरी के तृतीय सप्ताह में लिखा गया था। हिन्दी में अब तक अप्रकाशित इस पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है – "पूज्यपाद, ... किसी व्यक्ति ने मुझे पत्र लिखा है। उसमें नाम नहीं है, इसलिये जान नहीं सका कि वे महात्मा कौन हैं। वे दर्शन करने योग्य तो हैं ही। जो पवहारी बाबा के समान महापुरुष को गो के खुर-चिह्न में एकत्र जल के समान (क्षुद्र) मानते हैं और पृथ्वी पर जिनके सीखने योग्य कुछ भी नहीं है तथा सीखना अपमानजनक मानते हैं, इस प्रकार के एक नवीन पुरुषावतार तो दर्शन-योग्य ही होंगे ! मुझे आशा है कि सरकार को इसकी सूचना मिलते ही वह उन्हें अलीपुर के पशुपतिनाथ-उद्यान – चिड़ियाघर में ले जाकर बड़े आदरपूर्वक स्थान देगी। यदि आपको उस व्यक्ति के विषय में जानकारी हो, तो उन्हें मुझको आशीर्वाद देने के लिये कहियेगा। जब कुत्ते और सियार तक मेरे गुरु हो सकते हैं, तो फिर ऐसे महापुरुष (पवहारी बाबा) की तो बात ही क्या है ! मुझे अभी भी बहुत कुछ सीखना है। मेरे गुरुदेव कहते थे – जब तक जीऊँ, तब तक सीखूँ। उनसे यह भी कहियेगा कि मैं ऐसा अभागा हूँ कि मुझे 'सात समुद्र और तेरह नदियाँ' पार करके लंका में जाकर नाकों में तेल डालकर सो जाने का अधिकार भला कहाँ प्राप्त है?* पुनश्च – गुलाब जल (वराहनगर मठ) भेजने में देरी होने पर ईशान बाबू के घर से मँगवा लीजियेगा। गुलाब अभी तक खिले नहीं हैं। गुलाब-जल ईशान बाबू के घर भेजा गया है।"[१९]

पत्र से ज्ञात होता है कि फरवरी के मध्य में उन्होंने मठ में ठाकुर-पूजा में उपयोग हेतु गुलाब-जल भेजा था।

अखण्डानन्द जी से पत्र-व्यवहार

१९ फरवरी (१८९०) को गाजीपुर से लिखे अपने तेरहवें पत्र में स्वामीजी ने प्रमदाबाबू को लिखा – "मैंने गंगाधर (स्वामी अखण्डानन्द) को पत्र लिखा था कि वह अपना भ्रमण स्थगित कर कहीं ठहर जाय और तिब्बत में जिन विभिन्न प्रकार के साधुओं से भेंट हुई हो उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि के विषय में विशेष रूप से मुझे लिख भेजे। जो उत्तर उसने मुझे लिखा, वह मैं आपके पास भेज रहा हूँ। काली (अभेदानन्द) को ऋषीकेश में बार-बार ज्वर हो आता है, मैंने उसे यहाँ से एक तार भेजा है। यदि उसने मुझे बुलाया तो मुझे यहाँ से सीधे एक दो दिन में ऋषीकेश जाना होगा। मेरे इस सारे मायाजाल पर आपको हँसी आती होगी और बात भी सचमुच ऐसी ही है। एक बन्धन लोहे की जंजीरों का होता है, दूसरा सोने की जंजीरों का। दूसरे बन्धन से बहुत कुछ कल्याण होता है और इष्ट-सिद्धि के बाद वह अपने आप खुल जाता है। मेरे गुरुदेव की सन्तानें मेरी सेवा के पात्र हैं। और यहीं पर मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे लिए कुछ कर्तव्य बाकी है। सम्भवत: काली को इलाहाबाद अथवा जहाँ सुविधा होगी वहाँ भेजूँगा। आपके चरणों के सम्मुख मेरे शत शत अपराध उपस्थित हैं – **पुत्रस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**। अधिक क्या लिखूँ।"[२०]

प्रमदाबाबू को लिखित इस पत्र में स्वामीजी ने गंगाधर महाराज से प्राप्त जिस पत्र का उल्लेख किया है, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

काश्मीर
रामबाग समाधि, श्रीनगर
(फरवरी १८९०)

पूजनीय,

आज आपका पत्र पाकर मुझे इतना आनन्द हुआ कि समझ में नहीं आता कि क्या लिखूँ ! आपकी शारीरिक कुशलता का समाचार पाकर परम हर्ष हुआ। पवहारी बाबा को मेरे असंख्य प्रणाम !

मैंने कहीं भी ऐसे महात्मा नहीं देखे, जिनके विषय में मैं आपको लिखूँ। तिब्बत में विशेषत: केवल मठ हैं – बौद्ध मठ, जो विभिन्न देवताओं की विशालकाय मूर्तियों तथा लामाओं से परिपूर्ण हैं। ये मठ बौद्धों के कुछ नियमों से बँधे हुए हैं। लामा लोग अधिकांशत: ढाक, शंख, घण्टे तथा विभिन्न प्रकार के वाद्यों को बजाते हुए सदा-सर्वदा पूजा-पाठ में व्यस्त रहते हैं। कोई-कोई ध्यानस्थ – समाधिस्थ भी होते हैं, परन्तु ऐसा अति विरल है। वे लोग कहते हैं – हम लोगों का पहला उद्देश्य यह है कि हम लोग जो कुछ भी करते हैं, सभी प्राणियों के लिये करते हैं – I for others (मेरा सर्वस्व दूसरों के लिए)। यह बात सारे तिब्बती लोग जानते हैं।

आचार-व्यवहार अधिकांशत: प्राचीन कौल तांत्रिकों के समान है – केवल देवी को वैष्णवी कहते हैं और पूजा भी

* रावण के भाई कुम्भकर्ण को ब्रह्माजी ने लगातार छह महीने सोने का वर दे दिया था। नाक में सरसों का तेल डालना गहरी निद्रा में सहायक है।

१९. The Complete Works., खण्ड ९, पृ. ४; बँगला पत्रावली, पृ. २८

२०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३५९

तदनुरूप करते हैं। मठों में धन का कोई विशेष अनादर देखने को नहीं मिला। श्री गुरुदेव की कृपा से आप लोगों का दर्शन करने के बाद अब अन्य किसी भी महात्मा को ढूढ़ने की इच्छा नहीं है, आवश्यकता भी नहीं है।

आपका जो निष्कर्ष है, वही पक्का निष्कर्ष है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है। एक स्थान पर बैठे बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। आपकी सारी बातें दास शिरोधार्य करता है। तथापि मैंने तिब्बत के जैसा स्वास्थ्यकर (जहाँ तक देखा है) और (मक्खी, साँप आदि) किसी भी जीव के उपद्रवों से रहित स्थान अन्यत्र कहीं नहीं देखा। तिब्बत ही वास्तविक उत्तराखण्ड है। धर्म-साधना के लिये हर तरह से अनुकूल है। इतनी सुन्दर गुम्फा मैंने कहीं भी नहीं देखी। और धर्म के लिये जो लोग वहाँ आते-जाते हैं, तिब्बती लोग अतिशय प्रीति के साथ उनका सत्कार करते हैं। केवल जाड़ों की भयंकर सर्दी मेरे लिये असहनीय थी। वह अनुकूल नहीं है। आपने जिस स्थान की बात लिखी है, वैसा स्थान ऋषीकेश के ऊपर गंगातट पर – देवप्रयाग के पास – हर प्रकार से भिक्षा की सुविधा से युक्त स्थान है। जो लोग बदरीनाथ गये हैं, वे सभी जानते हैं। आपने जैसा लिखा है – पवित्र स्थान बदरिकाश्रम – उसके ऊपर और क्या है? मैं क्या जानता हूँ, जो लिखूँगा? मैं अब भ्रमण आदि नहीं करूँगा। मुझे क्षमा कीजियेगा। आपने काली के बुखार की बात लिखी है, शायद इतने दिनों में अब तक ठीक हो गया होगा। अभी तक वराहनगर (मठ) से कोई समाचार नहीं मिला है।

पिछले शिवरात्रि के दिन शंकराचार्य पर्वत पर गया था। अब भी यहाँ खूब ठण्ड पड़ रही है। यह स्थान बुरा नहीं है। हम लोगों के लिये अनुकूल प्रतीत होता है! आप जैसा कहेंगे, दास वैसा ही करने को तैयार है। **सर्वाशा संक्षये चेतः क्षयो मोक्षः – इति श्रुतेः**। क्षमा कीजियेगा। अब भी मुझे यहाँ कुछ दिन रहना पड़ा। मेरे मन में जो भी आया, मैंने लिख दिया। दास के असंख्य प्रणाम, श्री गुरुदेव के समस्त भक्तों के चरणों में मेरे असंख्य प्रणाम।

> विभिन्न भोगों के सुख मधुर तथा मनमोहक हैं और विभिन्न रूप धारण करके मन को विक्षुब्ध करते हैं। भोग-सुख को ही दु:ख-कष्टों का कारण जानकर साधक को गैंडे के समान एकाकी विचरण करना चाहिये।
>
> मेरी दृष्टि में ये सुख ही मानो महामारियाँ, बुराइयाँ, दुर्भाग्य, रोग, पीड़ाएँ और विपत्तियाँ हैं। भोग-सुख को ही दु:ख-कष्टों का कारण जानकर साधक को गैंडे के समान एकाकी विचरण करना चाहिये।
>
> सर्दी और गर्मी, भूख और प्यास, आँधी और धूप, डंस-मक्खी और साँप – इन सबका सामना करते हुए साधक को गैंडे के समान एकाकी विचरण करना चाहिये।
>
> सिंह के समान गर्जन से कम्पित न होकर, झंझावात के समान जाल में न फँसकर, कमल के समान जल में निर्लिप्त न होकर – साधक को गैंडे के समान एकाकी विचरण करना चाहिये।*

हम भी ऐसे ही – एक गाँव से दूसरे गाँव में, एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर, अपने पूर्ण ज्ञानी और धर्म की प्रतिमूर्ति श्री गुरुदेव की उपासना करते हुए इसी प्रकार विचरण करेंगे।

मेरे मन में जो भी आया, लिख दिया। दास आपका हस्ताक्षर देखने की आशा में रहा। आपका हर तरह से अनुगत दासानुदास – गंगाधर[२१]

पिछले पत्र के उत्तर में **फरवरी के उत्तरार्ध में** गाजीपुर से अपने चौदहवें पत्र में स्वामीजी ने अखण्डानन्द को लिखा –

प्राणाधिकेषु, तुम्हारा पत्र पाकर बहुत हर्ष हुआ। तिब्बत के बारे में तुमने जो कुछ भी लिखा है, वह बड़ा आशाजनक है। मैं एक बार वहाँ जाने की चेष्टा करूँगा। संस्कृत में तिब्बत को उत्तर-कुरुवर्ष कहते हैं, वह म्लेच्छभूमि नहीं है। पृथ्वी भर में सब से ऊँची भूमि होने के कारण वह बड़ा शीतप्रधान है। परन्तु क्रमशः शीत सहकर वहाँ रहने का अभ्यास हो सकता है। तिब्बती लोगों के आचार-व्यवहार के बारे में तुमने कुछ नहीं लिखा। यदि वे इतने अतिथिपरायण हैं, तो उन्होंने तुम्हें आगे क्यों नहीं बढ़ने दिया? सब कुछ विस्तार से लिखो। तुम न आ सकोगे, यह जानकर खेद हुआ। मुझे तुम्हें देखने की बड़ी इच्छा थी। ऐसा लगता है कि मैं तुम्हें सब से अधिक प्यार करता हूँ। खैर, इस माया से भी छुटकारा पाने की चेष्टा करूँगा।

तिब्बतियों के जिन तांत्रिक अनुष्ठानों के विषय में तुमने लिखा है, उनका श्रीगणेश भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के पतन के समय हुआ था। मेरा विश्वास है कि हम लोगों में जो तंत्र प्रचलित हैं, उनका सूत्रपात बौद्धों के द्वारा ही हुआ था। वे तांत्रिक अनुष्ठान हमारे वामाचार से भी अधिक भयंकर थे। उसमें व्याभिचार के लिए कोई रोक-टोक न थी। जब बौद्ध लोग अति व्याभिचार-परायण होकर शक्तिहीन हो गये थे, तभी कुमारिल भट्ट को उन्हें यहाँ से भगाना पड़ा। जैसे कुछ संन्यासियों का श्रीशंकराचार्य के विषय में और बाउल लोगों का श्रीचैतन्य के बारे में कहना है कि वे गुप्तभोगी, सुरापायी तथा नाना प्रकार के जघन्य आचरणकारी थे, वैसे ही आधुनिक तांत्रिक बौद्धगण बुद्धदेव के बारे में कहते हैं कि वे घोर वाममार्गी थे और ये लोग प्रज्ञा-पारमिता की तत्त्वगाथा जैसे सुन्दर उपदेशों के विकृत अर्थ लगाते हैं। इसके परिणामस्वरूप आजकल बौद्धों के दो सम्प्रदाय हो गये हैं। ब्रह्मदेश और

---

२१. शरणागति ओ सेवा (बँगला), कलकत्ता, सं. १९९७, पृ. ३९-४१

* सुत्तनिपात के खग्ग-विसाण-सुत्त के १६-१८ तथा ३७ वाँ पद

सिंहल के लोग बौद्ध तंत्रों को प्राय: नहीं मानते। साथ ही इन्होंने हिन्दू देवी-देवताओं को भी दूर कर दिया है तथा जिन 'अमिताभ बुद्धम्' को उत्तरांचल के बौद्ध परम पूजनीय समझते हैं, उन्हें भी हटा दिया है। सारांश यह कि 'अमिताभ बुद्धम्' और दूसरे देवता जिनकी उत्तरांचल में पूजा-अर्चना होती है, उनका उल्लेख तक प्रज्ञापारमिता जैसे ग्रन्थों में नहीं है, किन्तु उन्हीं में बहुत-से देवी-देवताओं के पूजन का विधान है। दक्षिणियों ने तो जान-बूझकर शास्त्रों का उल्लंघन करके देवी-देवताओं को त्याग दिया है। बौद्ध धर्म का वह भाव जिसका अर्थ है – Everything for others (सर्वस्व दूसरों के लिए) और जिसका तुम तिब्बत भर में प्रचार पाते हो, आजकल यूरोप के लिए बड़े आकर्षण की चीज है। इस भाव के विषय में मुझे बहुत-कुछ कहना है, पर इस पत्र में कहाँ तक लिखूँ? उपनिषदों का जो धर्म, केवल एक जाति-विशेष के हाथों में बद्ध था, उसे गौतम बुद्ध ने सबके लिए खोल दिया। उनकी श्रेष्ठता उनके निर्वाण के सिद्धान्त में नहीं, अपितु उनकी अतुलनीय सहानुभूति में है। बौद्ध धर्म के वे अंग जिनके कारण बौद्ध धर्म को महत्ता प्राप्त है, प्राय: सब-के-सब वेदों में मिल जाते हैं। वहाँ यदि कुछ नहीं है, तो वह है बुद्धदेव की बुद्धि तथा उनका हृदय, जिनकी बराबरी जगत् के इतिहास में आज तक कोई नहीं कर सका।

वेदों में जो कर्मवाद है, वही यहूदी तथा अन्य धर्मों में भी है अर्थात् यज्ञ आदि बाह्य उपकरणों द्वारा अन्त:करण की शुद्धि। सर्वप्रथम भगवान बुद्ध ने ही इसका विरोध किया, परन्तु उसके मूल भाव प्राचीन जैसे ही रहे। उदाहरणार्थ उनका अन्त:कर्मवाद तथा वेदों को छोड़ सूत्रों (सुत्तों) पर विश्वास करने की आज्ञा को देखो। जातिभेद वही पुराना था, परन्तु वह गुणों के अनुसार हो गया (बुद्ध के समय में जातियों का पूर्ण लोप नहीं हो पाया था) और जो उनके धर्म पर विश्वास नहीं करते थे, उन्हें 'पाखण्डी' कहा जाता था। 'पाखण्ड' बौद्धों का एक पुराना शब्द है, परन्तु वे बड़े भले और सहिष्णु थे; उन्होंने कभी अविश्वासियों पर तलवार नहीं उठायी। तुमने तर्कों की आँधी में वेदों को उड़ा दिया, पर तुम्हारे धर्म का प्रमाण क्या? बस विश्वास करो !! – वही, जो सब धर्मों में है। यह उस समय की एक बड़ी जरूरत थी और इसी कारण उनका अवतार हुआ था। उनका मायावाद कपिल के जैसा है। परन्तु आचार्य शंकर का सिद्धान्त कितना महत्तर और अधिक युक्तिपूर्ण था! बुद्ध और कपिल केवल यही कहते रहे – इस जगत् में केवल दु:ख ही दु:ख है – इससे भागो, भागो।'' सुख क्या यहाँ बिलकुल नहीं है? यह कथन ब्राह्मों के जैसा है, जिनके मत से इस जगत् में सब सुख-ही-सुख है। दु:ख तो है, पर क्या करें? कोई कह सकता है कि दु:ख भोगने का निरन्तर अभ्यास हो जाने पर, वह सुख जैसा लगेगा। परन्तु शंकराचार्य का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि यह संसार है भी और नहीं भी, अनेक रूप होने पर भी एक है – **सन्नापि असन्नापि, भिन्नापि अभिन्नापि** – मैं इसका रहस्य जानूँगा। इसमें दु:ख है या कुछ और – मैं इसका पता लगाऊँगा। मैं उसे हौआ समझकर क्यों भागूँ? मैं इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करूँगा। इसके जानने में जो अनन्त दु:ख है, उसे मैं पूरी तौर से अंगीकार करता हूँ। क्या मैं पशु हूँ, जो तुम मुझे इन्द्रिय-जनित सुख-दु:ख, जरा-मरण आदि का भय दिखाना चाहते हो? मैं इसे जानूँगा, इसके जानने के लिए जान दे दूँगा। इस जगत् में जानने योग्य कुछ भी नहीं है। अत: यदि इस मायिक जगत् के परे कुछ हो, जिसे भगवान बुद्ध 'प्रज्ञापारम्' कहते हैं, तो मुझे वही चाहिए। मुझे इस बात की परवाह नहीं कि उसकी प्राप्ति होने पर मुझे दु:ख होगा या सुख। क्या ही उच्च भावना है यह ! कितनी महान् ! बौद्ध धर्म उपनिषदों के ऊपर पनपा है और उसके भी ऊपर है शंकर का दर्शन। यदि शंकर में कोई कमी है, तो वह यह कि उनमें बुद्ध के हृदय का कण मात्र भी नहीं है। उनका केवल शुष्क ज्ञानवाद था। उन्होंने तंत्रों के भय से, आम लोगों के भय से एक फोड़े को ठीक करने के प्रयत्न में पूरा हाथ की काट डाला। इन सब बातों को लिखना हो, तो एक बड़ा ग्रन्थ ही लिखना होगा, पर न तो मुझे इतना ज्ञान है, न आवश्यकता ही।

भगवान बुद्ध मेरे इष्ट और मेरे ईश्वर हैं। उनका कोई ईश्वरवाद नहीं, वे स्वयं ईश्वर थे। इस पर मेरा पूर्ण विश्वास है। किन्तु परमात्मा की अनन्त महिमा को सीमाबद्ध करने की किसी में शक्ति नहीं। ईश्वर में भी यह शक्ति नहीं कि वह अपने को सीमित कर सके। 'सुत्तनिपात' से 'गण्डारसुत्त' का तुमने जो अनुवाद किया है, वह सुन्दर है। उस ग्रन्थ में एक दूसरा 'धनियासुत्त' है, जिसमें इसी तरह के भाव है। 'धम्मपद' में भी इन्हीं भावों की अनेक बातें हैं। पर वह तो उस परिपक्व अवस्था की बात है, जो पूर्ण ज्ञान और आत्मानुभूति से सन्तुष्ट होने पर सभी परिस्थियों में अक्षुण्ण रहती है और जिसमें इन्द्रियों पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है – **ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः**। (गीता, ६/८) जिसमें शरीर-बोध बिल्कुल नहीं है, वह मदमत्त हाथी की तरह इधर-उधर विचरण करता है। परन्तु मेरे समान क्षुद्र जीव के लिए यह आवश्यक है कि वह एक स्थान पर बैठकर साधना करे और तब तक अभ्यास में लगा रहे। जब अभीष्ट-सिद्धि हो जाय, तब फिर वह चाहे तो उस प्रकार का आचरण कर सकता है। परन्तु वह अवस्था दूर है – बहुत दूर।

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्ष्यम्-अशनं
पानं सरिद्वारिषु ।।
स्वातन्त्र्येण निरंकुशा स्थितिरभीर्

निद्रा श्मशाने वने ।।
वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं
दिग्वास्तु शय्या मही ।।
संचारो निगमान्तवीथिषु विदां
क्रीडा परे ब्रह्मणि ।।
विमानमालम्ब्य शरीरमेतद्
भुनक्त्यशेषान् विषयानुपस्थितान् ।
परेच्छया बालवदात्मवेत्ता
योऽव्यक्तलिंगोऽननुषक्तबाह्यः ।।
दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा
त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः ।।
उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा
पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम् ।।

– ब्रह्मज्ञ को भोजन बिना चेष्टा स्वत: मिल जाता है; जहाँ पानी मिले, वहीं पी लेता है । वह स्वेच्छानुसार सर्वत्र विचरण करता है – वह निर्भय है, कभी जंगल में और कभी श्मशान में सो जाता है और जिस मार्ग पर जाने से वेद भी शेष हो जाते हैं वहाँ वह संचरण करता है । वह बालकों की तरह दूसरों की इच्छानुसार परिचालित होता है; कभी नंगा, तो कभी उत्तम वस्त्र धारण करता है और कभी-कभी तो उसका आच्छादन ज्ञान मात्र रहता है; कभी अबोध बालक की भाँति, कभी उन्मत्त के समान और कभी पिशाचवत् व्यवहार करता है । (विवेक-चूडामणि, ५३८-४०)

मैं गुरुदेव के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हें वह दशा प्राप्त हो और तुम गैंडे की भाँति निर्द्वन्द्व विचरण करो ।

इति, विवेकानन्द[२२]

इस पत्र के उत्तर में स्वामी अखण्डानन्द ने श्रीनगर से मार्च के प्रारम्भ में लिखा –

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

पूजनीय – श्रीचरणों में हजारो हजार प्रणाम –

आज मेरा कैसा शुभ दिन है ! आपके दो पत्र मिले । आपके पहले पत्र की बातें मुझे खूब याद हैं । पता चला कि वही सत्य है । इस समय वही कर्तव्य है, वही पक्का निष्कर्ष है, निश्चय ही अन्य कोई गति नहीं । ऐ इसाक, मैं बलि दूँगा, उन्हीं का धन उनको दूँगा, इसमें मेरा क्या है ! यह कैसी बात ! मैं दूँगा? मुझे कहाँ से मिला? मैंने कहाँ किसी को दिया? उन्होंने दिया – उन्होंने लिया, यह उन्हीं की बात है ।

मेरा पुन: आपको कुछ लिखना कैसी मूर्खता है ! प्रणाम के सिवा मैं आपको क्या लिख सकता हूँ – क्षमा कीजियेगा ।

स्थान की बात कहें, तो वह है बदरिकाश्रम । भगवान ने स्वयं ही वहाँ तपस्या की थी । उन्होंने तपस्या के लिये उद्धव आदि सभी को वहीं भेजा था, यह सब तो आप जानते ही हैं ।

बदरिकाश्रम तो वही है, केवल बादरायण और वह आश्रम नहीं है । अत: वही स्थान हर तरह से सुन्दर, स्वास्थ्यकर एवं सुभिक्ष होगा । अगले कुछ महीनों के लिये वह स्थान अतीव सुन्दर होगा – सब प्रकार से अनुकूल, आने-जाने का मार्ग भी सुगम है । इस वर्ष जाड़ों में अधिक बर्फ नहीं पड़ने से, आजकल खूब ठण्ड है । तो भी यदि आप बदरिकाश्रम जाने का ही निश्चय कर चुके हों – तो आप कहाँ रहते हैं – दास को इस बात की अवश्य सूचना मिले, तो फिर वह अविलम्ब चरणों में पहुँच जायगा ।

आपने लिखा है कि जो केवल स्थान-काल के सौन्दर्य के लिये ही भ्रमण करता रहता है, उसकी आशा सातों भुवन देखकर भी नहीं मिटती, बल्कि और भी बढ़ जाती है, इससे मैं विस्मित हूँ । आपने पिछले पत्र में जो कुछ लिखा है, उस का अमोघ मर्म मैं भला क्या समझूँ, क्या जानूँ, जो लिखूँगा । वहाँ अन्य किसी वक्तव्य, मन्तव्य या कर्तव्य का बोध नहीं रह जाता । उसके बाद जो है, वही है । श्री गुरुदेव से प्रार्थना है कि हम सभी को वही हो, वैसे ही पुर में विचरण करें ।

तिब्बत के आचार-व्यवहार के विषय में आपने जो लिखा है, वह सब स्पष्ट ही है – मैं और विशेष क्या लिखूँगा? कुछ अगोचर नहीं है । तिब्बत के जिस प्रदेश में मैं गया था, उसे 'ङारी कुरसुम' कहते हैं । तिब्बत चार भागों में विभक्त है । ङारी कुरसुम, ङाम् तोक, सां, ऊ... । इनमें ङारी प्रदेश के चतुर्थांश का एकांश भी मैंने शायद नहीं देखा । मैं बहुत कम दिन ही था । तो भी जो कुछ देखा है, वह अति सुन्दर, बड़ा ही गम्भीर स्थान है । और मठों के आचार-व्यवहार अच्छे हैं, अत्यन्त पवित्र हैं, यहाँ तक कि आज भी जो लोग स्त्री-सम्भोगी हैं, उन्हें मठ-मन्दिरों में कोई अधिकार नहीं है ।

कितना सुन्दर नियम है, किसी के द्वारा उल्लंघन होने पर उसकी रक्षा नहीं है । राज्य की जो भी आय है, वह केवल मठ-मन्दिरों में ही व्यय होता है । अत: राजकार्य भी इन्हीं लोगों को करना पड़ता है । मठ में अनेक श्रेणियों के लोग हैं । लामा लोग सचमुच ही इन सब कार्यो से निश्चिन्त रहते हैं, निम्न श्रेणी के डाबा लोग ये सब कार्य करते हैं, ये लोग व्यापार भी करते हैं – जो भी हो – सब मठ के लिये ही किया जाता है । पर अन्य किसी दोष से दूषित होने पर, पूरी तौर से मठ के बाहर जाना पड़ता है । बुद्ध के मुख्य-मुख्य उपदेश सभी मठों में सचमुच ही उसी प्रकार है, तथापि भिन्न-भिन्न अधिकारियों के भेद से जैसा होता है ! इस बौद्ध धर्म में बुद्धदेव के दिनों में ही कई सम्प्रदाय हो गये थे । उसके बाद का तो कहना ही क्या ! आपने जिन तंत्रोक्त भयंकर आचारों की बातें लिखी हैं, वे मठ आदि में नहीं हैं उन सब पर चर्चा भी निषिद्ध है । परन्तु सामान्य लोग पशुवत् हैं । वे लोग उन सभी भयंकर आचारों को जरा भी भयंकर नहीं मानते । इतना कठोर भयंकर स्थान है, इसमें ये लोग कैसे समय बिताते हैं,

---

२२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३५९-३६३

सो क्या कहूँ! अधिकांश लोग छोटे-छोटे तम्बुओं में भेंड़-बकरे रखकर पालते हैं – उसी से जीवन-निर्वाह करते हैं। यदि जायेंगे, तो देखेंगे – कुछ कहने का नहीं है।

ये लोग केवल 'लामा संग्या कु जोंक' – कहकर सर्वदा देवताओं के नाम लेते रहते हैं; और साधुओं तथा धार्मिक लोगों की बड़ी भक्ति करते हैं, सम्मान देते हैं। इन लोगों में से किसी-किसी को हम लोगों के देवता के समान धूप-दीप से पूजते भी देखा है। अस्तु, इन लोगों के बड़े अद्‌भुत गुण हैं। इन लोगों की बातें छोड़ देनी पड़ेंगी, इनके देशाचार के रूप में ऐसा भी देखा है कि ये लोग स्त्री देकर भी अतिथि का सत्कार करते हैं, शायद यह मैं पहले लिख चुका हूँ।

कुल मिलाकर मठ का आचार-व्यवहार अतीव सुन्दर है, अतिशय विशुद्ध है, तंत्र की अनीतियाँ एक भी नहीं जानते। परन्तु दिन-रात खूब पूजा करते हैं, यह भी बड़ा अद्‌भुत है और एक-एक प्रकार की पूजा के समय भिन्न-भिन्न वेश तथा उपकरण रहते हैं। इस देश में देखा कि देवी की पूजा बलि के मांस से पूर्णत: रहित होती है। फिर भस्मासुर की पूजा के समय उसके बिना नहीं चलता। यहाँ एक तरह की सुरा जैसी दी जाती है, परन्तु पुजारियों को पीने का अधिकार नहीं है। मठ के लोगों के लिये पीना निषिद्ध है। मठों को देखने से मन में सचमुच ही पवित्रता का भाव उदित होता है।

आपने जो 'अमिताभ बुद्धम्' लिखा है, वही नाम है, परन्तु किसी किसी जघन्य आचरणकारी को वह नाम बोलते नहीं सुना। उन लोगों को 'तत्त्वगाथा' आदि के वाक्यों की कुत्सित व्याख्या करते नहीं सुना। जैसा बाउल लोग महाप्रभु को कहते हैं, ये वैसे भ्रष्ट नहीं हुए हैं, होने से कहते। आप के समान ही पुष्टिवर्धन। अब भी स्त्री के विषय में विशेष नियम है। यहाँ तक कि विशेष आवश्यक हुए बिना स्त्रियों को मठ में आने का अधिकार नहीं है। नृत्य, गीत तथा किसी प्रकार का मादक द्रव्य निषिद्ध है; बुद्धदेव के समय जैसा नियम था, वैसा ही है। नैतिकता बिगड़ी नहीं है, परन्तु सबकी समान उन्नति नहीं हो सकती। देखिये, हो सकता है कि कोई केवल पूजा-पाठ ही करता है और कोई केवल जप ही करता हो – ॐ मणि पद्मे हुं' – यही प्रधान मंत्र है, ऐसा नाम-माहात्म्य कहीं भी नहीं देखा। कोई केवल 'लूं गं दूग' ध्यानस्थ है, कोई केवल 'तोंबानी थामजेत् तोंबा' – 'मैं पूर्ण शून्य हूँ' – इसी का अभ्यास कर रहा है।

मैंने जितना देखा – उससे ध्यान-समाधि लगानेवाले लोग अति दुर्लभ प्रतीत होते हैं – सुना कि लासा की ओर अनेक हैं। एक अल्प-उन्नत साधक कैलास पर्वत के मठ में मिले थे। उन्होंने बुद्ध का एक आसन बताया, जो बड़ा अद्‌भुत है। उस प्रकार बैठने पर शुरू में ही इतनी गर्मी लगती है कि शरीर पर कोई वस्त्र सहन नहीं होता। "मैं इस प्रकार बैठकर क्या करूँ?" – पूछने पर उन्होंने कहा, "कुछ नहीं, मन को शून्य करो।" ऐसा आसन ठण्डे स्थान के लिये बुरा नहीं है।

अधिक क्या लिखूँ – आपके लिये कुछ भी अज्ञात नहीं है। मैंने जो देखा – मठ के आचार-व्यवहार सर्व प्रकार से नीतिपूर्ण हैं। फिर कोई चाहे जो करे। सब शक्ति अलग-अलग है, अत: कार्य भी अलग-अलग हैं, मूल बात यह कि सबको उन सुन्दर नियमों के अधीन रहना होगा। मठ प्राय: बड़े सुन्दर स्थानों में हैं – गाँवों से दूर, ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर बने हैं। गृहस्थों के साथ उनका कोई संसर्ग नहीं रहता।

'लामा, गेलाम्, कुमार, निंमा, सनशे, गेशे, खाम्बा' – ये ही मुख्य सम्प्रदाय हैं। उसके बाद अधिकांश 'डाबा' मिलेंगे। 'दागढ्या तोम्बा शाक्य थूबा सेमजे थाम देला थूग चिजिक्छि" – यही है आपका वह "मेरे इष्ट हैं बुद्धदेव और मेरा Everything for others (सब कुछ दूसरों के लिए)। इस विषय में आपको जो कुछ कहना हो, लिखियेगा। एक अन्य बात भी उनके मुख से सुनने को मिली कि तिब्बतियों का पहले कोई शास्त्र नहीं था, जो कुछ है सब हमीं लोगों से मिला है। "गाकर कादीन फाफ पा" (आर्य) कहता है – "हमारा जो कुछ है, सब तुम लोगों का है।" खूब आतिथ्य करते हैं, केवल कहते हैं, "अंग्रेजों के साथ मिले हो, इसीलिये हम लोगों को भय होता है, हम तुम लोगों के साथ ज्यादा मिल-जुल नहीं सकते;" तो भी सत्कार में कोई कमी नहीं करते।

आपने तिब्बत जाने की जो इच्छा व्यक्त की है, इस विषय में मेरा निवेदन है कि नेपाल होकर सहाइया जाने से ही अच्छा होगा, बदरीनाथ के रास्ते से नहीं। और देखिये, दशहरे के बाद ऋषीकेश में ठहरना जरा भी ठीक नहीं है – या तो ऊपर, नहीं तो नीचे – पर वहाँ नहीं।

असंख्य प्रणाम नमस्कार। आपकी जो इच्छा हो, लिखियेगा। आपका पता मुझे लगातार मालूम रहना चाहिये।

पुनश्च – तिब्बत के जिस अंचल में मैं गया था, वहाँ चोर-डकैतों का बड़ा भय है; वहाँ के लोग अकेले घोड़े पर चढ़कर कहीं भी नहीं जाते। सर्वदा शंकित रहते हैं। अनाज उत्पन्न न होने के कारण निर्धनता है। लोग अत्यन्त गरीब हैं। और अधिक क्या लिखूँ।

श्रीचरण दर्शनाकांक्षी, गंगाधर[२३]

अखण्डानन्दजी के साथ स्वामीजी के इस पत्र-व्यवहार से स्पष्ट है कि स्वामीजी ध्यान आदि के लिये एकान्त निर्जन स्थान की खोज में हिमालय, यहाँ तक कि तिब्बत तक जाने की योजना बना रहे थे। **❖ (क्रमश:) ❖**

२३. शरणागति ओ सेवा (बँगला), कलकत्ता, सं. १९९७, पृ. ४३-४६

स्वामी शुभानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

काशी सेवाश्रम के संस्थापकों में से एक 'चारुबाबू' ही परवर्ती काल में स्वामी शुभानन्द के नाम से परिचित हुए थे। उनका पूर्वाश्रम का नाम था चारुचन्द्र दास। उनका घर कलकत्ते के मुसलमान-पाड़ा लेन में था, वैसे उनका पैतृक निवास स्थान चौबीस परगना जिले के इछापुर में था। चारुचन्द्र अपने पिता श्यामा शंकर दास के चौथे पुत्र थे। १८९२ ई. के प्रारम्भ में जब चारुचन्द्र कलकत्ते के रिपन कॉलेज में द्वितीय वर्ष के छात्र थे, तभी उनका मन जीवन के उच्चतम लक्ष्य की ओर आकृष्ट होना शुरू हुआ। वैसे भक्तप्रवर रामचन्द्र दत्त के व्याख्यानों आदि के प्रभाव को ही उसका प्रथम कारण कहा जा सकता है। क्रमश: वे श्रीरामकृष्ण-विषयक चर्चाएँ सुनने तथा पाठ करने में आग्रही हुए। इन्हीं दिनों वे हर मंगलवार की शाम को दक्षिणेश्वर जाकर एकान्त में भगवत्-चिन्तन और परिचित मित्र-भक्तों को साथ लेकर सत्संग आदि किया करते थे। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी उन दिनों कलकत्ते के हैरिसन रोड पर निवास कर रहे थे। चारुचन्द्र अपने समवयस्क मित्रों को साथ लेकर विजयकृष्ण के पास आना-जाना करते और वहाँ होनेवाले भागवत-पाठ तथा संकीर्तन आदि में सम्मिलित होकर परम तृप्ति का अनुभव करते। इसी प्रकार उनके मन की संसार के प्रति उदासीनता तथा अर्थकरी विद्या के प्रति अरुचि में उत्तरोत्तर वृद्धि दिखने लगी। इसके फलस्वरूप उनकी कॉलेज की पढ़ाई वहीं स्थगित हो गयी।

चारुचन्द्र के कुछ धर्मबन्धु थे। उन लोगों के साथ मिलकर नियमित रूप से सच्चर्चा तथा साधु-महात्माओं का संग करना उनका दैनन्दिन कार्य हो उठा। इसे देखकर उनके माता-पिता तथा सगे-सम्बन्धी बड़े चिन्तित हुए। माता-पिता ने पुत्र को संसारी बनाने के कई तरह के प्रयास किये और उन्हें घर में आबद्ध करने के लिये विवाह आदि की भी चेष्टा की, परन्तु सब कुछ व्यर्थ सिद्ध हुआ। आखिरकार 'सिन्हा एंड चन्द्रा' नामक एक सालीसीटर के दफ्तर में उनके लिये काम ढूँढ़ लिया गया। चारुचन्द्र सदैव ही स्वाधीन मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। उन्होंने सोचा – जो भी हो, स्वाधीन भाव से रहने को तो मिलेगा। इसीलिये उन्होंने स्वेच्छापूर्वक क्लर्क का काम स्वीकार कर लिया। सुबह के दस बजे से चार बजे तक दफ्तर के कार्य में लगे रहने पर भी बाकी समय वे पूर्ववत् ही बिताने लगे। उनके उत्साही युवा मित्रों की भी उनके प्रति अनुराग में वृद्धि होती रही। इन दिनों उन लोगों का संघबद्ध रूप से साधन-भजन तथा पाठ-चर्चा आदि खूब जम उठा था। स्वाधीन भाव से मित्रों को साथ लेकर घर में यह सब अनुष्ठान करने में असुविधा होती थी, इसीलिये घर के पास ही एक छोटा-सा कमरा किराये पर लेकर वहीं पर वे लोग धर्मग्रन्थों के पाठ तथा भजन-कीर्तन आदि में समय बिताते। क्रमश: घर के साथ उनका सम्बन्ध मात्र भोजन के समय का ही रह गया – बाकी समय वे उस छोटे-से कमरे में ही निवास करते, यहाँ तक कि रात को भी वहीं रह जाते। सम्भवत: १८९५ ई. के किसी समय वे अपने दो-एक मित्रों को साथ लेकर हिमालय में केदारनाथ तथा बद्रीनारायण का दर्शन करने गये थे। इसी समय वे हरिद्वार, काशी आदि प्रसिद्ध तीर्थों का भी दर्शन कर आये थे। अस्तु, १८९६ ई. तक चारुचन्द्र की जीवनधारा प्राय: इसी प्रकार चलती रही।

१८९७ ई. के १९ फरवरी को स्वामीजी पाश्चात्य देशों में वेदान्त-प्रचार का प्रथम पर्व समाप्त करके जब कलकत्ते लौटे, तो उनका अभिनन्दन करने हेतु सियालदह स्टेशन पर विराट् संख्या में जो जन-समावेश हुआ था, उसमें चारुचन्द्र भी सम्मिलित थे। कलकत्ते के उत्साही युवकों ने स्वामीजी के लिये निर्धारित गाड़ी के घोड़ों को खोल दिया और स्वयं ही स्वामीजी की गाड़ी को खींचते हुए रिपन कॉलेज के भवन तक ले आये थे। चारुचन्द्र भी उस तरंगायित जन-समुद्र को ठेलकर स्वामीजी की गाड़ी को खींचने में सक्षम हुए थे। उस दिन उनका चित्त जिस अभूतपूर्व आनन्द से भरपूर हो उठा था, उसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसके पूर्व उन्होंने पुरी के जगन्नाथ जी की रथयात्रा के बारे में सुन रखा था, आज वे मानो उसका प्रत्यक्ष दर्शन करके धन्य हो उठे थे। उन्होंने बोध किया, "मैंने विश्वप्राण जगन्नाथ जी का ही तो रथ खींचा है।" स्वामीजी के दिव्य व्यक्तित्व ने चारुचन्द्र को अभिभूत कर डाला था। उस दिन की शोभायात्रा के बाद वे घर तो लौट आये, परन्तु उनका मन स्वामीजी के चरणों में ही पड़ा रहा। अगले दिन वे समय निकालकर काशीपुर के गोपाल लाल शील के मकान में जाकर एक बार फिर स्वामीजी के पादपद्मों का दर्शन कर आये।

इसी समय से चारुचन्द्र ने मानो एक नवीन जगत् को ढूँढ़ निकाला था। पहले आलमबाजार मठ और उसके बाद

बेलूड़ मठ में आना-जाना करके श्रीरामकृष्ण की त्यागी शिष्य-मण्डली के साक्षात् संगलाभ के फलस्वरूप उन्होंने मानव-जीवन के लक्ष्य को उत्तरोत्तर स्पष्टतर रूप से देखना सीखा। उन दिनों स्वामी निरंजनानन्द चारुचन्द्र के प्रति विशेष स्नेह दिखाया करते थे। मठ के साथ उनका सम्पर्क ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा, त्यों-त्यों निरंजनानन्द जी तथा ठाकुर के अन्य शिष्यों के मुख से श्रीरामकृष्ण-प्रसंग सुनते-सुनते उनके हृदय में धर्मलाभ के लिये आन्तरिक व्याकुलता में भी वृद्धि होती रही। स्वामीजी का प्रत्यक्ष सान्निध्य तब भी उन्हें अधिक नहीं मिल सका था, तो भी वे मठ के साधु-सन्तों के मुख से दिन-रात उन्हीं की प्रेरणादायी जीवनकथा तन्मय होकर सुना करते। निरंजनानन्द जी ने चारुचन्द्र को श्रीरामकृष्ण का एक लीथो-ग्राफिक चित्र उपहार के रूप में दिया था। चारुचन्द्र ने परम श्रद्धा के साथ उस चित्र को ले जाकर अपने घर में स्थापित किया और उसके समक्ष ध्यान-धारणा आदि करने लगे।

१८९८ ई. में उनके माता-पिता ने अपने जीवन का बाकी समय काशीधाम में विश्वनाथ के आश्रय में बिताने का निश्चय करके, इसी उद्देश्य से वाराणसी की यात्रा की। चारुचन्द्र ने भी मौका देखकर एक दिन बिना किसी को बताये सालीसीटर के दफ्तर से त्यागपत्र दे दिया। उनका निश्चय था कि इसके बाद से वे निश्चिन्त भाव से साधन-भजन तथा साधुसंग करने में ही अपना जीवन बिता देंगे। परन्तु कलकत्ते में उनका मन नहीं लग रहा था, इसीलिये अपने साथ कुछ पुस्तकें तथा श्रीरामकृष्ण का वह चित्र लेकर उन्होंने भी काशी की यात्रा की। काशी पहुँचकर वहाँ के पवित्र परिवेश में उनका अस्थिर मन काफी-कुछ शान्त हो गया। नित्य गंगास्नान, विश्वनाथ-अन्नपूर्णा का दर्शन तथा साधन-भजन आदि करते हुए वे काशी में बड़े आनन्दपूर्वक जीवन बिताने लगे। यह सब करके बाकी समय वे माता-पिता की सेवा में ही लगे रहते। विश्वनाथ की पुरी में आकर चारुचन्द्र ने अनुभव किया कि इतने दिनों के बाद वे अपने मनमाफिक राज्य में आ पहुँचे हैं। प्रसन्न मैत्र के विद्यालय में उन्हें शिक्षक का काम भी मिल गया। दोपहर का भोजन वे विद्यालय में ही कर लेते। विद्यालय से कोई वेतन आदि वे नहीं लेते थे।

एक दिन बनारस के पथ पर चलते-चलते उन्होंने स्वामीजी के एक विशिष्ट शिष्य स्वामी शुद्धानन्द को देखा। वे उस समय माधुकरी भिक्षा के लिये जा रहे थे। स्वामी शुद्धानन्द के साथ उनका पहले ही कलकत्ते में परिचय हो चुका था, अत: काशीधाम में पुन: भेंट होने पर चारुचन्द्र बड़े ही आनन्दित हुए। शुद्धानन्द हाल ही में कैलाश तथा मानसरोवर तीर्थों का दर्शन करने के बाद वाराणसी में आकर निरंजनानन्द जी के साथ सोनारपुरा में वंशीदत्त के उद्यान में रहकर साधन-भजन कर रहे थे। चारुचन्द्र सुयोग पाकर उस उद्यान में जाकर निरंजन महाराज तथा शुद्धानन्द का संग करने लगे। परन्तु कुछ दिन बीतते ही शुद्धानन्द बीमार पड़ गये और उन्हें बेलूड़ लौट जाना पड़ा। उनकी इस बीमारी के समय चारुचन्द्र ने अत्यन्त आग्रह के साथ उनकी सेवा-शुश्रूषा आदि की थी। यह १८९८ ई. के अन्तिम दिनों की बात है।

शुद्धानन्द जी के मठ लौट जाने के बावजूद चारुचन्द्र ने पत्र आदि के माध्यम से उनके साथ नियमित सम्बन्ध बनाये रखा। १८९९ ई. की जनवरी में जब 'उद्बोधन' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ, तो शुद्धानन्द जी ने उनसे उसके लिये कुछ ग्राहक बनवा देने का अनुरोध किया और इसके लिये नमूने के रूप में 'उद्बोधन' की कुछ प्रतियाँ भी भेज दीं। इसी दौरान चारुचन्द्र का कुछ स्थानीय युवकों के साथ अच्छा परिचय हो गया था, जिनमें से कुछ तो उनके अत्यन्त घनिष्ठ हो उठे थे। इस 'उद्बोधन' के माध्यम से उनकी मित्र-मण्डली काफी सक्रिय हो उठी। मित्रों के सहयोग से पत्रिका के कुछ ग्राहक भी बने। इसी सूत्र से जिन लोगों के साथ उनकी मित्रता परम आत्मीयता में परिणत हो गयी थी, उनमें से सर्वाधिक स्मरणीय हुए केदारनाथ मौलिक, जो परवर्ती काल में स्वामीजी के एक संन्यासी शिष्य बनकर स्वामी अचलानन्द के नाम से सुपरिचित हुए थे।

केदारनाथ का घर ही चारुचन्द्र के मित्रों के मिलने का प्रमुख अड्डा था। वे लोग प्रतिदिन शाम को वहाँ एकत्र होकर 'उद्बोधन' में प्रकाशित स्वामीजी की रचनाओं का बड़े मनोयोग के साथ पाठ करते। चारुचन्द्र ही इस युवा-मण्डली के अगुआ थे। उन्हीं के उत्साह से क्रमश: केदारनाथ के घर पर सांध्य-सम्मेलन में किसी-न-किसी सद्ग्रन्थ का पाठ तथा चर्चा आरम्भ हुई। एक-एक कर स्वामीजी के 'ज्ञानयोग', 'राजयोग', 'कर्मयोग' तथा 'भक्तियोग' ग्रन्थों का नियमित रूप से पाठ हुआ। इसमें चारुचन्द्र ही उद्योगी पाठक थे और बाकी सभी लोग निष्ठावान श्रोता थे।

इन्हीं दिनों इन युवकों को स्वामी निरंजनानन्द जी के पवित्र साहचर्य तथा प्रोत्साहन के फलस्वरूप खूब प्रेरणा प्राप्त हुई थी। वे भी प्राय: प्रतिदिन ही केदारनाथ के घर आकर युवकों को ठाकुर-स्वामीजी के भावादर्श में खूब अभिभूत कर देते। उन्हीं को केन्द्र बनाकर एक बार चारुचन्द्र आदि ने श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव का भी आयोजन किया था। चारुचन्द्र द्वारा लाये गये पूर्वोक्त श्रीरामकृष्ण के चित्र में उस दिन स्वयं निरंजनानन्द जी ने ही पूजा सम्पन्न की थी। यह उत्सव केदारनाथ के घर में हुआ था। अस्तु, निरंजनानन्द जी इसके बाद हरिद्वार की ओर चले गये। स्वामीजी के एक शिष्य कल्याणानन्द जब तीर्थ-भ्रमण करते हुए काशीधाम आये,

तो केदारनाथ के ही अतिथि हुए थे। उस समय चारुचन्द्र आदि युवकों ने उनके सान्निध्य का पूरा लाभ उठाया था। सम्भवत: कल्याणानन्द के संगगुण से ही उन लोगों को स्वामीजी के सेवादर्श में निहित गम्भीर तत्त्व की धारणा हो सकी थी। कल्याणानन्द जी ने भी, आदर्शवादी युवकों की इस टोली को पाकर उन्हें स्वामीजी के भावों में खूब अनुप्राणित कर दिया था। कल्याणानन्द के मन में चारुचन्द्र के विषय में सदा से ही एक आस्था का भाव था। बाद में देखा गया कि जब वे किशनगढ़ में सेवाकार्य का संचालन कर रहे थे, उस समय उपयुक्त कर्मी का अभाव होने पर उन्होंने पत्र लिखकर वाराणसी में चारुचन्द्र को सूचित किया था। यह समाचार पाकर चारुचन्द्र के मित्र केदारनाथ उस समय कल्याणानन्द की सहायता करने किशनगढ़ गये थे।

उन दिनों चारुचन्द्र के नेतृत्व में, किसी की नजरों में आये बिना ही काशी में एक युवासंघ गठित हो रहा था। इन लोगों ने स्वामीजी के ही भावों को अपने-अपने जीवन का आधार बना लिया था और परोपकार को ही अपने धर्म के रूप में स्वीकार किया था। १२ जून १९०० ई. का दिन था। कलकत्ते की डाक से 'उद्बोधन' पत्रिका आकर चारुचन्द्र के हाथ में पहुँची। पत्रिका को खोलते ही स्वामीजी द्वारा रचित 'सखा के प्रति' शीर्षक अग्निगर्भ कविता पर जाकर चारुचन्द्र की दृष्टि ठहर गयी। उस कविता की अन्तिम चार पंक्तियों को वे बारम्बार पढ़ने लगे –

ब्रह्मा से अति सूक्ष्म कीट तक, जग है जिसका श्वास,
वही प्रेममय सब जीवों में करता नित्य निवास;
अपना तन-मन-प्राण और इस जीवन का भी प्रतिक्षण,
इन सबके चरणों में करते रहो, सतत ही अर्पण ।।

बहु रूपों में विचरण करते, प्रभु सामने तुम्हारे,
इन्हें छोड़ तुम उन्हें ढूँढ़ते, फिरते मारे-मारे;
सब जीवों से प्रेम करे जो, बलिहारी उस नर की,
वही कर रहा सेवा-पूजा, परम ब्रह्म ईश्वर की ।।

कविता की हर पंक्ति ने चारुचन्द्र के भावजगत् में महा-विप्लव की सृष्टि कर दी। पढ़ते-पढ़ते उनका शरीर रोमांचित हो उठा। आनन्द के अतिरेक से अस्थिर होकर वे तत्काल 'उद्बोधन' को हाथ में लिये हुए एक मित्र के घर दौड़ गये। संध्या का समय था। उनके मित्र घर के एक कोने में बैठे एकान्त में ईश्वर-चिन्तन कर रहे थे। चारुचन्द्र ने उनके कमरे में प्रवेश करते ही उन्हें आसन से उठा दिया और अपने पढ़े हुए 'उद्बोधन' के पृष्ठ को खोलकर उदात्त स्वर में उनके सम्मुख पाठ करने लगे। आनन्द के उच्छ्वास में उन्होंने अपने मित्र की पीठ थपथपाते हुए कहा था, "अरे, स्वामीजी की बात सुनो! घर के कोने में क्या आँखें मूँदे हुए बैठे हो! स्वामीजी की यह वेदान्त-वाणी सुनो! तुम अपने सम्मुख जो रोगी तथा भूख से पीड़ित लोगों को देख रहे हो, वे ही हमारे ईश्वर हैं, हमारे नारायण हैं, हमारे शिव हैं!" चारुचन्द्र के इस मित्र का नाम था यामिनी रंजन मजूमदार। इतने दिनों बाद दोनों मित्रों को मानो बहुकाल-प्रतीक्षित आदर्श-पथ का सन्धान मिला। चारुचन्द्र ने और भी कहा, "सुनो यामिनी, स्वामीजी ने कहा है कि इस संसार के प्रत्येक जीव के भीतर ईश्वर या ब्रह्म निवास कर रहे हैं। सर्वभूतों में ब्रह्म विराजमान है – इसी भाव को प्रकट करना सभी धर्मों का, समस्त साधनाओं का और सभी कर्मों का सार-सर्वस्व है। आज स्वामीजी ने हम लोगों को यही बात समझा दी है। इसी भाव से अनुप्राणित होकर अपने व्यक्तिगत जीवन को उन्नत तथा शक्तिसम्पन्न बनाना ही सर्वश्रेष्ठ धर्मसाधना है।" यह सब सुनकर यामिनी के नस-नस में भी विवेकानन्द-विद्युत् का प्रवाह दौड़ने लगा। चारुचन्द्र का स्वामीजी के भावादर्श में दीक्षाग्रहण इसी प्रकार सम्पन्न हुआ था।

अविमुक्त-क्षेत्र वाराणसी सनातन भारतवर्ष का प्राचीनतम तीर्थ है। युग-युग से इस तीर्थक्षेत्र में कितने ही साधु-संन्यासी तथा परिव्राजकों का आवागमन – असंख्य लोगों की भीड़ होती रही है। असंख्य मुक्तिकामी नर-नारी अपनी जीवन-संध्या में यहाँ आकर श्री विश्वानथ-अन्नपूर्णा के चरणों में आश्रय लेकर पड़े रहते हैं। उस काल के सुविधावादी पण्डा लोग तीर्थयात्रियों पर कई तरह के अत्याचार किया करते थे। किसी यात्री के बीमार पड़ जाने पर उसके सारे रुपये-पैसे आदि छीनकर उसे धर्मशाले से निकालकर रास्ते में डाल देते थे। यदि कोई यात्री वृद्ध होता, तो उसकी जो शोचनीय अवस्था होती थी, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसे असहाय यात्री रास्ते में ही पड़े-पड़े परलोक सिधार जाते थे।

चारुचन्द्र के पूर्वोक्त मित्र यामिनीरंजन ने वैसी ही एक वृद्धा को सड़क के किनारे मरणासन्न हालत में देखा और अपने ही हाथों से उसकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे। वह १३ जनवरी अर्थात् चारुचन्द्र के मुख से 'सखा के प्रति' कविता सुनने के ठीक बाद वाला दिन था। यामिनी अन्नक्षेत्र से भिक्षा लेकर जीवन धारण करते और नित्य गंगास्नान, विश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दर्शन तथा साधन-भजन में ही दिन बिता देते थे। उस दिन बड़े सबेरे गंगास्नान करके लौटते समय रास्ते में पड़ी हुई उस मरणासन्न वृद्धा को देखकर सहानुभूति से उनके प्राण रो उठे थे। उस मृतप्राय बुढ़िया का प्राय: सारा शरीर मल-मूत्र से आच्छादित था। यामिनी रंजन ने बिना किसी दुविधा के अपने हाथ से उसके शरीर का मार्जन किया, बड़े यत्नपूर्वक उसे उठाकर एक बरामदे में सुला दिया और उसके लिये पथ्य-आहार की खोज में निकल पड़े। वे स्वयं भी तो भिक्षाजीवी थे, अत: पथ्य वे भला कहाँ से जुटा पाते? इसीलिये

किसी राहगीर सज्जन के सामने हाथ पसारकर उन्हें भिक्षा के रूप में चार आने पैसे मिले। उसी से उन्होंने गरम दूध खरीदकर बुढ़िया को पिलाया और तात्कालिक रूप से उसकी प्राणरक्षा की। इसके बाद उन्होंने काफी प्रयास करके, अनेक बाधा-विघ्नों तथा परीक्षाओं को पार करके उस वृद्धा को भेलूपुरा के अस्पताल में भर्ती कराने के बाद उसकी शुश्रूषा आदि की व्यवस्था कर दी थी। यामिनी आदि युवकों ने ही चन्दा एकत्र करके अस्पताल के दवा-पथ्य आदि खर्चों को पूरा किया था। यामिनी के इस सेवाकार्य में उस दिन चारुचन्द्र ही प्रमुख उत्साहदाता थे। चारुचन्द्र, केदारनाथ आदि युवकों के एक-एक कर यामिनी के पीछे आकर खड़े होते ही, उनके हृदय के बल-विश्वास में और भी वृद्धि हो गयी। अस्तु, यामिनी रंजन के उद्यम और चारुचन्द्र, केदारनाथ आदि के सम्मिलित उत्साह एवं समर्थन तथा उनके अन्य युवा मित्रों के सहयोग से सम्पन्न उस दिन का यह छोटा-सा सेवा-अनुष्ठान ही वर्तमान काशी सेवाश्रम के विराट् सेवायज्ञ का श्रीगणेश था। इस दृष्टि से कहा जाय तो १९०० ई. का १३ जून ही सेवाश्रम का स्थापना दिवस है; और भिक्षा में प्राप्त वे चार आने ही इसका प्रारम्भिक मूलधन है। सड़क के किनारे पड़ी हुई वह वृद्धा ही सेवाश्रम की प्रथम सेवा-गृहीता थीं, उनका नाम था नृत्यकाली दासी।

सेवाव्रत धारण करनेवाले चारुचन्द्र तथा उनके मित्रगण परम उत्साह के साथ वाराणसी की गलियों में घूमते रहते और किसी भी दुखी, पीड़ित या असहाय को देखने पर जी-जान लगाकर उसकी नारायण-ज्ञान से सेवा आदि में लग जाते। नियमित सत्संग तथा स्वामीजी के ग्रन्थ आदि पाठ के साथ ही यह नयी गतिविधि भी उस युवा-मण्डली की कार्यसूची में सम्मिलित हो गयी। इसी प्रकार धीरे-धीरे चारुचन्द्र के नेतृत्व में अनाथाश्रम या पूअर मेन्स रिलीफ एसोसिएशन (निर्धन परित्राण समिति या अनाथाश्रम) के नाम से एक संस्था गठित हो उठी। वे लोग स्वयं भी चन्दा देकर तथा भिक्षा माँगकर रोगी-नारायणों के लिये दवा-पथ्य, बिस्तर-कम्बल तथा अस्पताल के खर्च को पूरा करते। केदारनाथ के घर में ही इस समिति का कार्यालय था। १९०० ई. के सितम्बर महीने में रामापुरा में ३२/८२ जंगमबाड़ी में पाँच रुपये महीने किराये पर एक कमरा लिया गया और बाद में क्रमश: कार्य में विस्तार होने पर वह (१९०१ ई. के १९ फरवरी को) २२७ नं. दशाश्वमेध घाट और (१९०१ ई. के २ जून से) डी ३८/१५३ रामापुरा में स्थानान्तरित हुआ। अनाथाश्रम समिति का कार्य क्रमश: नगर के गण्यमान्य लोगों की दृष्टि आकृष्ट करने में सफल हुआ था। चारुचन्द्र ने भी धीरे-धीरे संसार के साथ अपना सारा संसर्ग विच्छिन्न करके अनाथाश्रम के सेवाकार्य में ही पूरी तौर से मनोनियोग किया।

१९०२ ई. के फरवरी माह में स्वामीजी ओकाकुरा आदि के साथ जब वाराणसी आये, उस समय चारुचन्द्र के जीवन-चक्र को उपयुक्त गति एवं दिशा प्राप्त करने का पूर्ण सुयोग मिला था। स्वामीजी का स्वागत करने के लिये निरंजनानन्द जी तथा शिवानन्द जी के साथ ही अपने कुछ मित्रों सहित चारुचन्द्र भी मुगलसराय स्टेशन पर गये थे। निरंजनानन्द जी तथा शिवानन्द जी स्वामीजी के आने के कुछ दिन पूर्व ही वाराणसी आये थे। स्वामीजी इस बार कालीकृष्ण ठाकुर के बँगले में ठहरे थे। इन दिनों चारुचन्द्र को प्रतिदिन ही स्वामीजी की कुछ-न-कुछ सेवा करने का सुयोग प्राप्त हुआ था। इतना ही नहीं, किसी-किसी दिन स्वामीजी को भोजन आदि कराते अधिक रात हो जाने पर वे कालीकृष्ण ठाकुर के उद्यान में स्वामीजी के बगल के कमरे में ही रात बिताते। स्वामीजी के साक्षात् सम्पर्क में आने के फलस्वरूप अपने सेवाकार्य के उद्देश्य तथा भाव के विषय में उन लोगों की धारणा और भी स्पष्ट हो गयी थी। एक दिन स्वामीजी ने कहा था, "सेवाधर्म की सहायता से सर्वभूतों के साथ ईश्वर की एकता का सहज ही अनुभव किया जा सकता है। परन्तु तुम लोगों ने अपने कर्मजीवन में दया को उच्च स्थान दिया है। याद रखो, दया दिखाने का अधिकार तुम्हें नहीं है। एकमात्र सर्वभूतों के ईश्वर ही दया दिखाने के अधिकारी हैं। जो दया करना चाहता है, वह अवश्य ही गर्व तथा अहंकार से पीड़ित है, क्योंकि वह दूसरों को स्वयं से निकृष्ट तथा हीन समझता है। दया नहीं – सेवा ही तुम्हारे जीवन की नीति होनी चाहिये। देवमूर्ति-ज्ञान से जीवसेवा के द्वारा कर्म को धर्म में परिणत करो। ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई भी जीवों का दु:ख दूर नहीं कर सकता। तुम लोग भला निर्धनों का परित्राण क्या करोगे? झूठा अभिमान मत पालो। अपनी समिति का नाम Home of Service (सेवाश्रम) कर डालो।" चारुचन्द्र आदि युवकों की आँखें खुल गयीं। उन लोगों ने स्वामीजी के निर्देशानुसार समिति का नाम Ramakrishna Home of Service (रामकृष्ण सेवाश्रम) कर दिया। सेवाश्रम तब भी मिशन के हाथ में नहीं आया था।

❖ (क्रमशः) ❖

कर्मयोग – एक चिन्तन (२१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

सामान्य व्यक्ति कर्म में आसक्त होकर शास्त्र के अनुसार सकाम कर्म करते हैं। जैसे कोई हर पूर्णिमा और अमावस्या को घर में सत्यनारायण की पूजा करते हैं, जिससे हमारे परिवार का कल्याण हो। यह अच्छी बात है। अब कोई कहे कि क्या कथा-पूजा कराना है। ये पंडित लोग पैसा के लिए करते हैं, इससे कुछ नहीं होता है। ये कथा-पूजा करना बन्द करो। ऐसा व्यक्ति लोकसंग्रही नहीं है। वैसे लोगों के लिये भगवान कहते हैं कि तुम दूसरे की बुद्धि को भ्रमित मत करो। बल्कि तुम भी उसी प्रकार निष्ठा से कर्म करो, जिससे दूसरों को प्रेरणा मिले।

जो सामान्य जन कर्म में आसक्त हैं, अज्ञानी हैं, उनकी बुद्धि में भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये। वे ज्ञानियों की तरह शास्त्रों का या वेदान्त का चिन्तन नहीं कर सकते हैं, भगवान के नाम का दिनभर जप नहीं कर सकते, पर सकाम रूप से सत्यनारायण की कथा करवाते हैं, जिससे उनके मन को थोड़ी शान्ति मिलती थी। तुमने उसे भी बहुत प्रकार के तर्क देकर उसकी सकाम पूजा बंद करवा दी। उसकी बुद्धि में भेद कर दिया, वह बिचारा भ्रष्ट हो गया। इससे बहुत बड़ी हानि होती है। अत: भगवान आदेश दे रहे हैं कि ऐसी भेद-बुद्धि कभी न उत्पन्न करो। बुद्धि-भेद कहते हैं किसी की आस्था को हिला देने को।

कई बार हमने देखा है, सुना है, आप लोग भी जानते हैं – विशेषकर ये महिलायें जो कोई सोमवार को, कोई तुलसीमाता के दिन, कोई अन्य दिन व्रत-उपवास करती हैं। कोई कहती हैं, हमको पंडितजी ने बताया है कि इतना और ऐसा उपवास करने से आपका दु:ख दूर हो जायेगा। बेटा, पति, घर के सब लोग अच्छे हो जायेंगे। जो महिलायें ये उपवास कर रही हैं, वे कोई पाप तो नहीं कर रही हैं, कोई बुरा काम तो नहीं कर रही हैं। वह बच्ची इसलिये उपवास करती है कि सालभर वह मंगलवार का उपवास करेगी, तो उसके पति का, बच्चे का कल्याण होगा, सास बीमार हैं, तो उनका कल्याण होगा। अब कोई तथाकथित ज्ञानी यह कहें कि यह सब गलत है, इसे छोड़ दो, तो बुद्धि-भेद हो जायेगा। बल्कि उससे कहेंगे कि ठीक है, निष्ठा से करो, और आवश्यक हो तो स्वयं भी अनासक्त होकर करो। यदि चित्तशुद्धि के लिये, पत्नी को उत्साह देने के लिये आप अगर मंगलवार का उपवास करें, तो अच्छा है। पतिदेव को कोई आकांक्षा नहीं है, वे अच्छे साधक हैं, वे लोक-संग्रह के लिये, दूसरों को सिखाने के लिये ये सब करते हैं। तो आपकी पत्नी और दस महिलाओं को कहेगी कि मेरे पति ऐसा अच्छा कार्य करते हैं। उससे सुनकर सभी महिलायें अपने पतियों को ये बात कहेंगी, इससे दस परिवार को प्रेरणा मिली। इससे निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धिभेद कभी-भी नहीं उत्पन्न करना चाहिये।

हम खुद ही अनधिकारी हैं। उपदेश देने का हमें कोई अधिकार नहीं है, किन्तु हम दूसरों को उपदेश देते हैं। सारी दुनिया में यह रोग सर्वव्यापी है, और इतना व्यापी है कि आज तक उसकी कोई दवा नहीं निकली। वह रोग है - हम सारी दुनिया को बदल देंगे, पूरे समाज को बदल देंगे। आपकी यह योजना ठीक है, किन्तु जब तक आप ऐसा सोचकर करेंगे, तब तक प्रकृति आपकी देह बदल देगी। अत: आप दूसरों को न बदलकर स्वयं को ही बदलने का प्रयास करें। किसी को भी भ्रमित न करें, अपितु दूसरों को सत्कर्म हेतु उत्साहित करें।

सकाम कर्म करते-करते धीरे-धीरे निष्काम कर्म करने की भी प्रवृति आयेगी। कभी लगेगा कि जिन लोगों ने निस्वार्थ कर्म किया, कभी किसी से कुछ मांगा नहीं, वे बहुत शान्त और प्रसन्न रहते थे। हमें उस जीवन का अनुभव करना चाहिये। उनका जीवन ऐसा कैसे हुआ? क्योंकि वे लोग परमात्मा के प्रति समर्पित थे। उन्होंने परमात्मा के संत्संग-प्रार्थना से समझ लिया था किसी की बुद्धि में भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये। बल्कि दूसरों की सेवा करनी चाहिये। तुम्हारे पड़ोसी यज्ञ करते हैं। तुम्हारे पास भी सब प्रकार की सुविधायें हैं, तो तुम भी कर सकते हो। वे लोग गायत्री मंत्र का जप करते हैं, तो तुम भी कर सकते हो। जो व्यक्ति कुछ नहीं करता है, उसे आप प्रेरित करें और जो करता है, उसे उत्साहित करें। किन्तु कभी भी बुद्धि में भेद उत्पन्न न करें। स्वयं प्रयत्नपूर्वक अनासक्त होकर उन कार्यों को करें। यही भगवान ने हमें उपरोक्त श्लोक में बताया।

अब २७ वें श्लोक में भगवान मूढ़ पुरुष, अज्ञानी पुरुषों का लक्षण बता रहे हैं –

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।३-२७

किसी भी चीज को हम लक्षण से पहचानते हैं। कौन मूर्ख है? – भगवान कह रहे हैं कि देखो अर्जुन, संसार के सभी कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा हो रहे हैं। सत्व, रज, तम ये तीन गुण सांख्य-दर्शन और वेदान्त को स्वीकार हैं। सांख्य

कहता है कि इन तीन गुणों से ही यह विश्व-ब्रह्मांड बना है और सभी कर्म इन तीनों गुणों से ही होते हैं। अहंकारी, विमूढ़ता, यह संस्कृत में गाली है। भगवान उन अहंकारी व्यक्तियों को गाली दे रहे हैं, जो लोग सोचते हैं कि 'मैं ही सब कुछ कर रहा हूँ।' यह समस्या आपकी-हमारी सबकी है और यही हमारे दु:खों का बहुत बड़ा कारण है। ऐसा सोचनेवाला व्यक्ति हमेशा दु:खी रहता है।

भगवान श्रीरामकृष्ण बैल का एक अच्छा उदाहरण देते हैं, जो हम्बा-हम्बा, मैं-मैं, कहता रहता है। उससे लोग खेत में हल चलवाते हैं। उसका नाक नाथकर उसे गाड़ी में जोतते हैं। वह कितना कष्ट पाता है और अन्त में मर जाता है। बैल जब मर जाता है, तब उसकी आंत से रस्सी तांत आदि बनाई जाती है। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, जब यह बैल मरता है, तो उसकी अतड़ियों से बने हुए तात से रूई धूनते हैं। तब उससे तुहूं तुहूं की आवाज आती है। जो व्यक्ति अहंकार से ऐसा सोचता है कि मैं ही करता हूँ, तो उसकी भी वैसी ही अवस्था हो जाती है। धानी के बैल की तरह उसकी अवस्था हो जाती है। आजकल के इस पैकेज के जमाने में सब धानी के बैल ही हैं।

एक बच्चे को मैंने पूछा – बेटा क्या करते हो? उसने कहा – मैं हैदराबाद में नौकरी करता हूँ। उसने आधुनिक विद्या पढ़ी है। इनफोरमेशन टेक्नोलॉजी में उसकी नौकरी है। मैंने पूछा – तुम्हें कितनी तनख्वाह मिलती है? उसने कहा कि तनख्वाह नहीं, पैकेज देते हैं। सालभर का उसे छह-सात लाख का पैकेज मिलता है। तेरी दिनचर्या क्या है? सुबह नौ बजे ऑफिस जाना पड़ता है और आने का कुछ ठिकाना नहीं। अब धानी के बैल की तरह कार्य करते रहो। ऐसा भी एक समय आने वाला है कि जब लोग सबेरे बाहर जायेंगे और रात को घर आयेंगे।

कुछ लोग जब घर से बाहर निकलते हैं, तो बच्चा सोया रहता है, और जब रात को लौटते हैं, तब भी बच्चा सोया हुआ होता है। जब किसी छुट्टी के दिन घर का बच्चा उन्हें देखकर पूछता है कि तुम कौन हो? लगता है आपको कहीं देखा है। एक-दूसरे को पहचानते नहीं। यदि ऐसा ही जीवन बिताना हो, तो गीता आपके काम की नहीं है। एक समय आयेगा कि संसार भी आपको फेंक देगा।

साधना की दृष्टि से हम पूर्वोक्त श्लोक पर विचार करें। विमूढ़ात्मा शब्द का अर्थ है जो व्यक्ति अपने अहंकार के कारण तथ्य को, वस्तुस्थिति को नहीं देखना चाहता। ऐसे घरों में जन्म लिया है, जहाँ कोई उच्च संस्कार नहीं है। व्यक्ति कैसे विमूढ़ हो गया? अहंकार के कारण विमूढ़ हो गया? पढ़ा लिखा है, विद्वान है, सब समझता है, सब मानता है तो भी वैसा आचरण नहीं करता है। वह विमूढ़ है।

भगवान शंकराचार्य कहते हैं – जब अहंकार मन में आता है, तो पहले व्यक्ति के मन में देहात्मबुद्धि प्रबल हो जाती है, इसलिये वह और अधिक अहंकारी हो जाता है। जब इस देह को ही वह सब कुछ मान लेता है और उसी आधार पर वह अपने जीवन का संचालन करता है, तो मोहग्रस्त हो जाता है। विमूढ़ात्मा का एक अर्थ होता है मोहग्रस्त हो जाना। माताएँ जरा समझ सकेंगी। छोटा बच्चा जब बोलना शुरू करता है, तो उसके मन में अहंकार नहीं रहता है। माताएँ उसे सिखाती हैं कि तेरा नाम सुरेश है, तेरी यह नाक है। असल में वह बच्चा नहीं जानता कि मेरा यह नाम है, मेरी यह नाक है, ये मेरे कान हैं। जब हम जन्म लेते हैं, तब हम बिना नाम के ही पैदा होते हैं। व्यक्ति को माता-पिता आदि नाम हम देते हैं, हम उस नाम का इतना अधिक डोज पिला देते हैं। हम उस नाम के अतिरिक्त दूसरी कल्पना ही नहीं कर सकते। मेरा अस्तित्व नाम से जुड़ा है। हम जब तक इस अहंकार रूपी मोह से मुक्त होने का प्रयत्न नहीं करेंगे, तब तक जीवन में आध्यात्मिकता आ नहीं सकती।

कैसे हम मोहित होते हैं? इस क्रम को देखें। जन्म के बाद हमारा नाम रख दिया गया। हमको पाठशाला में भरती कर दिया गया। अलग-अलग सबके नाम हैं। अब उस स्कूल में और एक सुरेश नाम का लड़का है। अब शिक्षक बुलाते हैं कि उस सुरेश को बुलाओ, उसने कांच की गिलास तोड़ दी है, उसको सजा देगें। तो तुरन्त वह सुरेश कहता है कि सर, मैंने ग्लास को नहीं तोड़ा है। दूसरा लड़का कहता है कि सर, दूसरे क्लास में और एक सुरेश नाम का लड़का है, उसने गिलास को तोड़ दिया है। देखिए, 'मैं' से अहंकार जुड़ा है और वह 'मेरा' अस्तित्त्व बनता है। और ज्यों ही अपना, मेरा व्यक्तिगत अस्तित्व बना, तो मैं ईश्वर से कट जाता हूँ। कैसे? श्रीरामकृष्ण कभी भी 'मैं' का उच्चारण नहीं कर पाते थे। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में जहाँ 'मैं' का उच्चारण किया है, वह ब्रह्म को मानकर किया है, व्यक्ति-कृष्ण के रूप में नहीं। जब हम अपने को व्यक्ति समझते हैं, तो हम इस विश्व ब्रह्माण्ड से कट जाते हैं। तब सभी विपत्तियाँ हमारे ऊपर आ जाती हैं। यदि आप अपने परिवार से कट जायें। यदि आप अपने स्वार्थ के लिए जीवन यापन करें – मैं खाऊँ, मेरी सारी सुविधा रहे, तो ऐसे अनेक लोग हैं, जो अपने सुख सुविधा में ही व्यस्त रहते हैं, उनको फिर दुनिया के लोग नहीं चाहते, वे लोग बड़ा कष्ट पाते हैं। जब हम 'मैं' से बँध जाते हैं, तो संसार से कट जाते हैं।

❖(क्रमश:)❖

कठोपनिषद्-भाष्य (३३)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ।। २/३/१३

अन्वयार्थ – **अस्ति इति एव** वह आत्मा 'है', इस प्रकार (सोपाधिक रूप में) **उपलब्धव्यः** अनुभव करना होगा, **तत्त्वभावेन च** और निरुपाधिक तत्त्व के रूप में भी (अनुभव करना होगा); **उभयोः** दोनों (सोपाधिक एवं निरुपाधिक आत्मा के बीच **अस्ति इति एव उपलब्धस्य** 'है' के रूप में जो सोपाधिक आत्मा अनुभूत हुई थी, वही **तत्त्वभावः** निरुपाधिक रूप **प्रसीदति** (सोपाधिक ज्ञाता के समक्ष) प्रकट होता है।

भावार्थ – वह आत्मा 'है' – इस प्रकार (सोपाधिक रूप में) उसका अनुभव करना होगा, और निरुपाधिक तत्त्व के रूप में भी (अनुभव करना होगा); दोनों (सोपाधिक तथा निरुपाधिक आत्मा के बीच 'है' के रूप में जो सोपाधिक आत्मा अनुभूत हुई थी, उसी का निरुपाधिक स्वरूप (सोपाधिक जाननेवाले के समक्ष) अभिव्यक्त होता है।

भाष्यम् – तस्मात् अपोह्य असत्-वादि-पक्षम् आसुरम् – अस्ति-इति-एव-आत्मा-उपलब्धव्यः सत् कार्यो बुद्धि-आदि-उपाधिः । यदा तु तत् रहितः अविक्रिय आत्मा कार्यं च कारण-व्यतिरेकेण न अस्ति 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा.उ. ६/१/१४) इति श्रुतेः तदा यस्य निरुपाधिकस्य अलिङ्गस्य सत्-असत्-आदि-प्रत्यय-विषयत्व-वर्जितस्य आत्मनः तत्त्वभावो भवति । तेन च रूपेण आत्मा-उपलब्धव्य इति अनुवर्तते ।

भाष्य-अनुवाद – अत: असत्वादियों (नास्तिकों) के आसुरी पक्ष का तिरस्कार करने के बाद बताते हैं कि सत् (ब्रह्म) के कार्य रूप बुद्धि आदि उपाधियों के दर्शन से यह समझ लेना चाहिये कि 'आत्मा है'। और जब अविकारी आत्मा अपने कार्य (बुद्धि आदि उपाधियों) से शून्य रहती है, तब कारण से पृथक् कार्य का अस्तित्व नहीं रहता, जिसके लिये श्रुति कहती है 'सारे विकारी पदार्थ (कार्यरूप संसार) वाणी पर आधारित केवल नाममात्र हैं, मृत्तिका (कारणरूप ब्रह्म) ही सत्य है।'' (छा.उ. ६/१/१४), तब जिस निरुपाधिक अलिंग (लक्षणरहित) ब्रह्म का 'अस्ति' (इति) 'नास्ति' (नेति) द्वारा बोध के विषयत्व से परे अन्तरात्मा के स्वरूप में स्थिति होती है। इस प्रकार 'उपलब्धव्य' (आत्मा की उपलब्धि करनी चाहिये) पद को यहाँ जोड़ लेना होगा।

तत्र अपि उभयोः सोपाधिक-निरुपाधिकयोः अस्तित्व -तत्त्वभावयोः – निर्धारणार्था षष्ठी – पूर्वम् अस्ति-इति-एव-उपलब्धस्य आत्मनः सत्कार्य-उपाधि-कृत-अस्तित्व -प्रत्ययेन उपलब्धस्य इत्यर्थः पश्चात्-प्रत्यस्तमित-सर्व-उपाधि-रूप आत्मनः तत्त्वभावो विदित-अविदिताभ्याम् अन्यः अद्वय-स्वभावो 'नेति नेति' (बृ. उप. २/३/६, ३/९/२६) इति 'अस्थूलम्-अनणु-अह्रस्वम्' (बृ. उप. ३/८/८) 'अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने' (तै. उप. २/७/१) इत्यादि-श्रुति-निर्दिष्टः प्रसीदति अभिमुखी-भवति, आत्म-प्रकाशनाय पूर्वम् अस्ति इति उपलब्धवतः इति एतत् ।। २/३/१३ (११४)

इस 'उभयोः' पद में षष्ठी विभक्ति निर्धारण के अर्थ में है। सोपाधिक अस्तित्व तथा निरुपाधिक स्वरूप-स्थिति – दोनों के बीच – पहले कहा गया – 'है' के रूप में उपलब्ध अन्तरात्मा का सत् (ब्रह्म) के कार्य रूप उपाधि से 'है' – बोध के द्वारा उपलब्ध होता है; इसके बाद – सर्व उपाधियाँ विलीन हो गयी हैं जिसकी, उस निरुपाधिक आत्मा का तत्त्वभाव अर्थात् जो ज्ञात तथा अज्ञात से भिन्न अद्वय स्वभाव वाला – 'यह नहीं, यह नहीं', 'स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, लघु नहीं', 'इन्द्रियों से अगोचर, अशरीरी, अनिर्वचनीय (अवर्णनीय), निराधार' आदि श्रुतियों द्वारा निर्दिष्ट जो अन्तरात्मा है, जिसे पहले 'है' के रूप में उपलब्धि करनेवाले के लिये, वह स्वयं को प्रकाशित करने के लिये अनुकूल हो जाती है।

* * *

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। २/३/१४

अन्वयार्थ – **ये** जो समस्त **कामा** कामनाएँ **अस्य** इस (मनुष्य) के **हृदि** हृदय में **श्रिताः** आश्रय लिये हुए रहती हैं, **सर्वे** वे सभी **यदा** जब **प्रमुच्यन्ते** दूर हो जाती हैं, **अथ** तब **मर्त्यः** मर्त्य जीव **अमृतः** अमर **भवति** हो जाता है, **अत्र** इस शरीर में ही **ब्रह्म** ब्रह्म का **समश्नुते** उपभोग करता है।

भावार्थ – जो समस्त कामनाएँ इस (मनुष्य) के हृदय में

आश्रय लिये हुए रहती हैं, वे सभी जब दूर हो जाती हैं, तब मर्त्य जीव अमर हो जाता है, इस शरीर में ही ब्रह्म का भोग करता है अर्थात् ब्रह्म के साथ अभिन्नता का बोध करता है।

भाष्यम् – एवं परमार्थ-दर्शिनोः – यदा यस्मिन् काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्य अन्यस्य अभावात् प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते, येऽस्य प्राक् प्रतिबोधात् विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः। बुद्धिः हि कामानाम् आश्रयः न आत्मा। 'कामः संकल्पः' (बृ. उ. १/५/३) इत्यादि श्रुत्यन्तरात् च। अथ तदा मर्त्यः प्राक्-प्रबोधात् आसीत् स प्रबोधोत्तर-कालम् अविद्या-काम-कर्म-लक्षणस्य मृत्योः विनाशात् अमृतो भवति। गमन-प्रयोजकस्य मृत्योः विनाशात् गमन-अनुपपत्तेः अत्र इहैव प्रदीप-निर्वाणवत् सर्व-बन्धन-उपशमात् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवति इत्यर्थः।। २/३/१४ (११५)।।

भाष्य-अनुवाद – इस प्रकार सर्वोच्च सत्य (ब्रह्म) की अनुभूति करने लेनेवाले व्यक्ति के लिये जिस समय समस्त कामनाएँ – जो प्रतिबोध (ज्ञान) होने के पूर्व ज्ञानी की बुद्धि में स्थित थीं, अन्य किसी भी वस्तु का अभाव हो जाने के कारण छिन्न-भिन्न (नष्ट) हो जाती हैं। अन्तरात्मा नहीं, अपितु बुद्धि ही कामनाओं की आश्रय है। अन्य श्रुति में कहा गया है – 'काम, संकल्प' संशय आदि मन के धर्म हैं। तो, जो ज्ञान के पूर्व मरणशील था, वह ज्ञान हो जाने के उपरान्त – अविद्या-काम-कर्म की शृंखला की मृत्यु अर्थात् विनाश हो जाने से, अमर हो जाता है। आवागमन में प्रवृत्त करानेवाली (अविद्या) की मृत्यु हो जाने से आवागमन की सम्भावना नहीं रह जाती। तब वह इसी लोक में, सारे बन्धनों का नाश हो जाने के कारण, (तेलहीन) दीपक के बुझ जाने के समान ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है।

* * *

कदा पुनः कामानां मूलतः विनाशः इति उच्यते –

इन कामनाओं का समूल नाश कब होता है, इस विषय में कहते हैं –

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।। २/३/१५

अन्वयार्थ – **इह** जीवित रहते ही **यदा** जब **हृदयस्य** बुद्धि की **सर्वे** सारी **ग्रन्थयः** ग्रन्थियाँ **प्रभिद्यन्ते** छिन्न हो जाती हैं, **अथ** तब **मर्त्यः** मर्त्य जीव **अमृतः** अमर **भवति** हो जाता है, **एतावत् हि** यहीं तक **अनुशासनम्** (वेदान्त का) उपदेश है।

भावार्थ – जीवित अवस्था में ही जब बुद्धि की सर्व ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब मर्त्य जीव अमर हो जाता है, इतना ही (पूरे वेदान्त का) उपदेश है (इसके सिवा अन्य कुछ नहीं)।

भाष्यम् – यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदम् उपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेः इह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढ-बन्धन-रूपा अविद्या-प्रत्यया इत्यर्थः। अहम् इदं शरीरं मम इदं धनं सुखी दुःखी च अहम् इति एवम् आदि-लक्षणाः तत्-विपरीत-ब्रह्म-आत्म-प्रत्यय-उपजननात् ब्रह्म एव अहम् अस्मि असंसारी इति विनष्टेषु अविद्या-ग्रन्थिषु तत् निमित्ताः कामाः मूलतः विनश्यन्ति। अथ मर्त्यः अमृतो भवति एतावत्-हि एतावत् एव एतावत् मात्रं न अधिकम् अस्ति इति आशङ्का कर्तव्या – अनुशासनम् अनुशिष्टिः उपदेशः। सर्व-वेदान्तानाम् इति वाक्यशेषः।। २/३/१५ (११६)

भाष्य-अनुवाद – यहीं अर्थात् इस संसार में जीवित रहते ही, जब हृदय अर्थात् बुद्धि की समस्त ग्रन्थियाँ – अविद्या से उत्पन्न होनेवाली समस्त मिथ्या धारणाएँ नष्ट हो जाती हैं, गाँठों के समान दृढ़ बन्धनरूपा होने के कारण इन्हें ग्रन्थियाँ कहा गया है। 'मैं यह शरीर हूँ', 'यह धन मेरा है', 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुखी हूँ', आदि वृत्तियाँ (अविद्याजन्य अध्यास के कारण होती हैं); जो इसके विपरीत ज्ञान – ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व-बोध से उत्पन्न होनेवाली 'मैं असंसारी ब्रह्म हूँ' की वृत्ति से नष्ट हो जाती हैं और तब अविद्या ग्रन्थियों का नाश हो जाने से उसके फलस्वरूप होनेवाली कामनाएँ भी समूल नष्ट हो जाती हैं। तब मरणशील मनुष्य अमर (मुक्त) हो जाता है। यहीं तक – ऐसी आशंका नहीं होनी चाहिये कि आगे और भी कुछ होगा – उपदेश है, समस्त उपनिषदों का – वाक्य को पूरा करने के लिये इतना जोड़ लेना होगा।

* * *

❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य
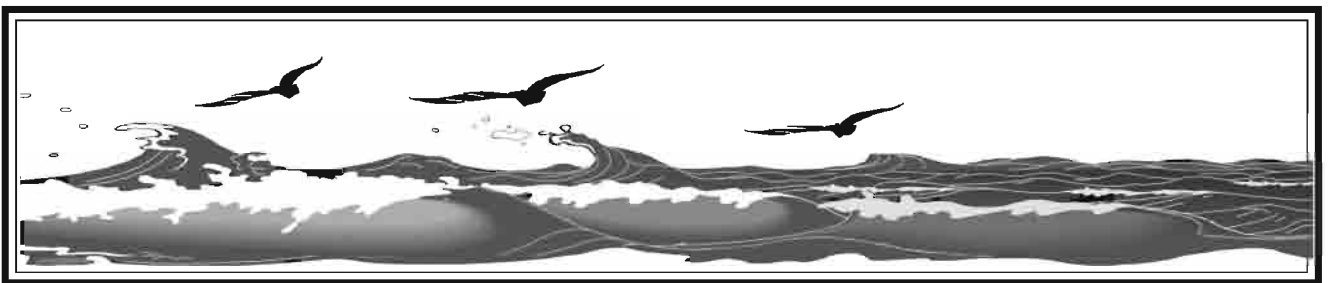
स्थितप्रज्ञ के लक्षण –

ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्तबाह्यार्थधी-
रन्यावेदितभोग्यभोगकलनो निद्रालुवद्बालवत् ।
स्वप्नालोकितलोकवज्जगदिदं पश्यन्क्वचिल्लब्धधी-
रास्ते कश्चिदनन्तपुण्यफलभुग्धन्यः स मान्यो भुवि ।। ४२५

अन्वय – ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्त-बाह्यार्थ-धीः अन्य-आवेदित-भोग्य-भोग-कलनः निद्रालुवत् बालवत् स्वप्नालोकित-लोकवत् इदं जगत् पश्यन् क्वचित लब्धधीः, अनन्त-पुण्य-फलभुक् कश्चित् आस्ते, सः भुवि धन्यः मान्यः ।

अर्थ – जो (ज्ञानी) सदैव ब्रह्म-स्वरूप में स्थित रहने के फलस्वरूप बाह्य विषयों की सत्यता के बोध से पूर्णतः मुक्त हो गया है, वह दूसरों द्वारा लाये गये अन्न-वस्त्र आदि भोग्य वस्तुओं को निद्राच्छन्न (तन्द्रालु) या बालक के समान (उस ओर बिना मनोनियोग के) ग्रहण करता है; फिर कभी (व्युत्थान के समय) विषयों की ओर बुद्धि लौटने पर सब कुछ स्वप्न में देखे जगत् के समान देखता हुआ जगत् में निवास करता है; अनन्त पुण्यों के फल का भोग करनेवाला अत्यन्त विरल (दुर्लभ) वह (ज्ञानी) धन्य और पूजनीय है ।

स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते ।
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः।।४२६।।

अन्वय – यः ब्रह्मणि एव विलीनात्मा निर्विकारः विनिष्क्रियः सदा आनन्दं अश्नुते अयं यतिः स्थितप्रज्ञः ।

अर्थ – जिसकी आत्मा ब्रह्म में ही विलीन हो जाने के फलस्वरूप, जो पूर्णतः निर्विकार तथा (कर्तृत्वबोध न होने से बाह्यतः) निष्क्रिय हो जाता है, जो सदा आनन्द में रहता है, ऐसे यति (संन्यासी) को स्थितप्रज्ञ जानो ।

ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते ।
सुस्थिताऽसौ भवेद्यस्य स्थितप्रज्ञः स उच्यते ।।४२७।।

अन्वय – शोधितयोः ब्रह्म-आत्मनोः एकभाव-अवगाहिनि निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञा इति कथ्यते । यस्य असौ सुस्थिता भवेत् सः स्थितप्रज्ञः उच्यते ।

अर्थ – ('तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' तथा 'त्वं' पदों द्वारा लक्षित) 'ब्रह्म' (परमात्मा) और 'आत्मा' (अन्तरात्मा) को उसके शोधित अर्थात् निरुपाधिक शुद्ध ब्रह्मात्म-ऐक्य बोध में डूबनेवाली निर्विकल्प तथा चिन्मात्रा (चैतन्य मात्र) वृत्ति को 'प्रज्ञा' कहते हैं। जिसकी ऐसी प्रज्ञा सुदृढ़ भाव से अपने स्वरूप में स्थित है, उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं ।

जीवन्मुक्त के लक्षण –

यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः ।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ।।४२८।।

अन्वय – यस्य प्रज्ञा स्थिता भवेत्, यस्य निरन्तरः आनन्दः, प्रपञ्चः विस्मृतप्रायः, सः जीवन्मुक्तः इष्यते ।

अर्थ – जिसकी 'प्रज्ञा' ब्रह्म में ही 'स्थित' है (यानी जो स्थितप्रज्ञ है), जिसे निरन्तर आनन्द की प्राप्ति होती रहती है, जिसके मन से जगत्-प्रपंच विस्मृतप्राय हो गया है, उसे जीवन्मुक्त समझा जाता है ।

लीनधीरपि जागर्ति जाग्रद्धर्मविवर्जितः ।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ।।४२९।।

अन्वय – यः लीन-धीः अपि जागर्ति जाग्रद्-धर्म-वर्जितः, यस्य निर्वासनः बोधः सः जीवन्मुक्तः इष्यते ।

अर्थ – परब्रह्म में विलीन हुआ जिस ज्ञानी का मन जागता रहकर भी जाग्रत अवस्था के लक्षणों (अहंता, ममता, राग-द्वेष, नानात्व-दर्शन आदि) से पूर्णतः विहीन होता है, जिसका बोध (ज्ञान) वासनाहीन होता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं ।

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यस्य चित्तं विनिश्चिन्तं स जीवन्मुक्त इष्यते ।।४३०।।

अन्वय – शान्त-संसार-कलनः कलावान् अपि निष्कलाः यस्य चित्तं विनिश्चिन्तं सः जीवन्मुक्तः इष्यते ।

अर्थ – जिसके मन से (राग-द्वेष आदि) संसार-विषयक कल्पना शान्त हो गये हैं, जो कलाओं अर्थात् अंग-प्रत्यंगोंवाला देहधारी होकर भी देहात्मबोध से रहित है, जिसका चित्त (जन्म-मृत्यु आदि की) चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त हो गया है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं ।

वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिञ्छायावदनुवर्तिनि ।
अहन्ताममताऽभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।४३१।।

अन्वय – छायावत् अनुवर्तिनि अस्मिन् वर्तमाने अपि देहे अहन्ता-ममता-अभावः जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।

अर्थ – (प्रारब्धवश) छाया के समान रह जानेवाली देह में विद्यमान रहते हुए भी, अहंता और ममता का नितान्त अभाव होना – यह जीवन्मुक्त का लक्षण है ।

अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्तं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।४३२।।

अन्वय – अतीत-अन्-अनुसन्धानम्, भविष्यद्-अविचारणम्, प्राप्तं अपि औदासीन्यम् जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।

अर्थ – भूतकाल में हुई घटनाओं का स्मरण (विश्लेषण) न करना, भविष्य में 'क्या होगा या नहीं होगा' – इसका विचार न करना और वर्तमान काल में प्राप्त (अनुकूल या प्रतिकूल, सुख-दुखमय) परिस्थितियों के प्रति पूर्णतः उदासीन रहना – यह जीवन्मुक्त का लक्षण है । ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयन्ती

के उपलक्ष्य में २०१३ में सम्पूर्ण देश-विदेश में कार्यक्रम आयोजित किये गये –

रामकृष्ण मिशन रामहरिपुर के द्वारा २५ फरवरी को आयोजित सार्वजनिक सभा में ४००० लोगों ने भाग लिया। आश्रम में आसपास के ६ ग्रामों के १५१ संथालों को बुलाकर भोजन कराया गया और सबको एक-एक धोती या साड़ी, नहाने का साबुन, सिर में लगाने के लिये तेल और रु. १००/- प्रदान किये गये। स्वामी विवेकानन्द जी ने भी अपने जीवन के अन्तिम समय में संथालों की सेवा की थी।

रामकृष्ण मिशन बड़ोदरा ने जून २०१२ से फरवरी २०१३ तक राज्यस्तरीय प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता आयोजित की, जिसमें गुजरात के १२३३ विद्यालयों के ७१,३४९ विद्यार्थियों ने भाग लिया। इसमें ४ राज्यस्तरीय पुरस्कार और ७७ जिलास्तरीय पुरस्कार प्रदान किये गये।

रामकृष्ण मिशन के विदेशी केन्द्रों में

रामकृष्ण मिशन के विदेश प्रभाग में पेरिस, सैन्फ्रांसिस्को, बांगलादेश, बागेरहाट, बारिसाल, दिनाजपुर और मारीशस में विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये गये, जिनमें हजारों लोगों ने भाग लिया। काठमाण्डू (नेपाल) में ६ और ७ जनवरी के सत्संग में १२०० लोगों ने भाग लिया। १२ जनवरी को आयोजित सभा में नेपाल के राष्ट्रपति श्री रामबरन यादव और भारत के राजदूत श्री जयन्त प्रसाद ने व्याख्यान दिया। सभा में लगभग ४५० लोग उपस्थित थे।

अन्य विभिन्न केन्द्रों में

रामकृष्ण सेवा समिति, बिलासपुर के तत्त्वावधान में २२, २३ फरवरी, २०१३ को सरस्वती शिशु मन्दिर उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, सेन्ध्री (कोनी) बिलासपुर, विद्यानिकेतन कान्वेन्ट एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, पामगढ़ और श्री महंत लालदास कला विज्ञान एवं शिक्षण महाविद्यालय, शिबरीनारायण में युवकों के लिये व्याख्यान आयोजित किये गये। सभी जगह युवकों को स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने सम्बोधित किया, जिसमें लगभग १००० छात्र-छात्राओं ने उत्साह के साथ भाग लिया। छात्रों को स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकें दी गयीं और सभी विद्यालयों में विवेकानन्द साहित्य और अन्य बहुत-सी पुस्तकें पुस्तकालयों के लिये प्रदान की गयीं।

यह आयोजन समिति के सचिव श्री सतीश द्विवेदी, बिजुरी विद्यापीठ के निदेशक श्री सुरेश चन्द्राकर, श्री गोपेश बनर्जी, श्री गोपेन्द्र द्विवेदी और स्वामी एकात्मानन्द जी ने किया था। २४ फरवरी को गीरोदधाम, रतनपुर महामाया मंदिर, रामटेकरी, जूनागढ़, कालभैरव, हनुमानजी सिद्धपीठ और लखनी माँ का दर्शन एवं सर्वेक्षण कर आगे की रूपरेखा तैयार की गयी।

१७ मार्च को बिलासपुर आश्रम में श्रीरामकृष्ण महोत्सव सभा में स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी प्रपत्त्यानन्द और श्री गोपेश द्विवेदी ने व्याख्यान दिया।

रामकृष्ण मिशन, रायपुर का बुक स्टाल उद्घाटन

१८ मार्च को बिलासपुर रेलवे स्टेशन, प्लेटफार्म नं.१ पर बुकस्टाल का उद्घाटन बिलासपुर रेलवे के डी.आर.एम श्री एल.सी. त्रिवेदी, ए.डी.एम. श्री एस. एन. दूबे, सीनीयर डी.सी.एम. श्री तनवीर हसन, एल. एम.एम. के डाइरेक्टर श्री नवीन सिंह और स्वामी सत्यरूपानन्द और स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया। बुक-स्टाल का निर्माण श्री गोपेन्द्र बनर्जी ने अथक परिश्रम से किया और इसका संरक्षण एवं व्यवस्था बिलासपुर आश्रम के सचिव श्री सतीश द्विवेदी जी ने किया।

रामकृष्ण सेवा मंडल, भिलाई ने २३ फरवरी को कला मंदिर में 'विवेकानन्द की आवश्यकता' पर व्याख्यान आयोजित किया। स्वामी सत्यरूपानन्द, स्वामी निखिलात्मानन्द, स्वामी निखिलेश्वरानन्द आदि ने व्याख्यान दिया।

भिलाई स्टील प्लान्ट, सेल में भी दैनन्दिन जीवन में सुख-शान्ति पर व्याख्यान हुआ, जिसमें स्वामी सत्यरूपानन्द और स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने सभा को संबोधित किया।

विवेकानन्द विद्यापीठ में राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन

२३-२४ फरवरी को विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर, रामकृष्ण मिशन, रायपुर, संस्कृति विभाग (छत्तीसगढ़ शासन) के संयुक्त तत्त्वावधान में 'विवेकानन्द एवं विश्व संस्कृति' पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसका उद्घाटन छत्तीसगढ़ के राज्यपाल श्री शेखर दत्तजी ने किया। इसमें पूरे देश से २५० पंजीकृत प्रतिनिधियों ने भाग लिया। स्वामी सत्यरूपानन्द, स्वामी निखिलात्मानन्द, स्वामी निखिलेश्वरानन्द,